

अनौपचारिका

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की मासिक पत्रिका

वर्ष : ४९ अंक : ५-६ वैशाख-ज्येष्ठ-आषाढ़ वि.सं. २०७८ मई-जून, २०२२(संयुक्तांक) सहयोग राशि- अठारह रुपये पृष्ठ-३२ RNI 43602/77 ISSN No.2581-981X

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति नयी कार्यकारिणी



अध्यक्ष
श्रीमती आशा बोथरा



उपाध्यक्ष
सुश्री सुनीता तंवर



उपाध्यक्ष
श्री ओम कुवेरा



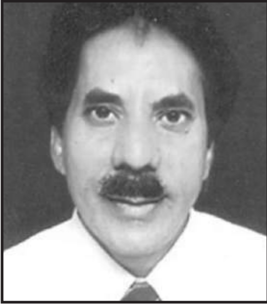
सचिव
श्री राजेन्द्र बोड़ा



संयुक्त सचिव
श्री आदिल रजा मंसूरी



संयुक्त सचिव
श्रीमती नीलम अग्रवाल



कोषाध्यक्ष
श्री अविनाश भार्गव

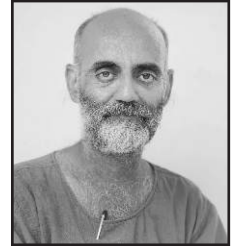
:– कार्यकारिणी सदस्य –:



श्री ओमप्रकाश टाक



श्री सुशील दशोरा



श्री हिमांशु व्यास

:– संस्था सदस्य –:



श्रीमती सुशीला ओझा



श्री राजेन्द्र भाणावत



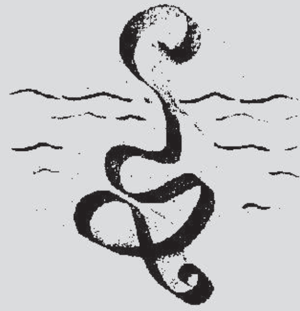
श्री राघवेन्द्र देव शर्मा



श्रीमती सुलक्षणा पारीक



श्री गिरिराज मोहता



असुर्याः नाम ते लोकाः
अन्धेन तमसा आवृताः।
तांस् ते प्रेत्य अभिगच्छन्ति
ये के च आत्महनः जनाः।।

(ईशावास्योपनिषद्)

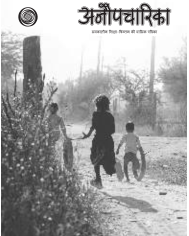
योनियां जो आसुरी मानी गयी हैं, जिनमें घनघोर तिमिर छाया हुआ है, वे मनुज जो आत्मज्ञान के आत्मघातक शत्रु हैं, उन्हीं की ओर मर कर वैसी ही गति पाते हैं। ❑

समानो मन्त्र: समिति: समानी समानं मन: सहचित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये व: समानेन वो हविषा जुहोमि।।
समानी व आकूति: समाना हृदयानि व:।
समानमस्तु वो मनो यथा व: सुसहासति।। ऋग्वेद

अनौपचारिका

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की पत्रिका
वर्ष : ४९ अंक : ५-६ वैशाख-ज्येष्ठ-आषाढ़ वि.सं. २०७८ मई-जून, २०२२

क्र म



आवरण : विपिन जांगीड़

विपिन कला के विद्यार्थी हैं और सिनेमेटोग्राफी करते हैं। अपने गांव में सूर्योदय की ओर दौड़ते बच्चों का फोटोग्राफ गर्मियों की छुट्टियों का आनन्द बिखेर रहा है। ❑



राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
७-ए, झालाना डूंगरी संस्थान क्षेत्र,
जयपुर-३०२००४
फोन : 2700559, 2706709, 2707677
ई-मेल : raeajaipur@gmail.com

सामाजिक समरसता की आजीवन शिक्षा

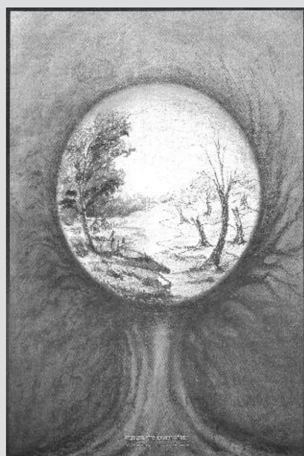


मित्रों एक मई को अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक दिवस और पांच जून को विश्व पर्यावरण दिवस के रूप में मनाया जाता है। पर्यावरण संरक्षण हम सबकी सामाजिक जिम्मेदारी है। श्रमिकों, मजदूरों, एवं मेहनतकश कृषकों को आजीविका कमाने हेतु न जाने किन–किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है और वे नई अर्थव्यवस्था के चलते अपने जीवन को असहाय, मजबूर एवं अवसाद से भरा पाते हैं। ऐसी परिस्थितियों में जीवन से लड़ना भी उनके लिए एक बहुत बड़ी चुनौती हो जाता है। वे अपने आप को गुलाम समझने लगते हैं । हर चीज से समझौता करने को वे विवश हो जाते है।

अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक दिवस की शुरुआत वर्ष १८८६ में संयुक्त राज्य अमेरिका के शिकागो शहर से हुई थी। इस शिकागो शहर में ही स्वामी विवेकानंद ने अपने भाषण की शुरुआत– मेरे बहनों और भाइयों के संबोधन से की थी।

आज स्वयं को सर्वोपरि समझने की सोच इतनी हावी हो गई है कि हम विश्व बंधुता को भूल बैठे हैं। हम एक बार स्वतंत्र भारत के नागरिक तो जरूर हो गए हैं, किंतु वर्ग और जातियों के नाम पर आज भी हम समतावादी समाज की संरचना में अपनी भागीदारी ठीक से नहीं निभा पा रहे हैं।

आज राजनीतिक, सामाजिक स्वतंत्रता का खतरा और भी बढ़ गया है। ऐसे में यह आवश्यक हो गया है कि श्रम की महत्ता को एक पहचान मिले। वैसे देखा जाए तो अपनी जीविका के लिए श्रम करने वाला हर व्यक्ति मजदूर है। एक मजदूर पसीने से भूमि को सींचता है। किसी भी देश में मजदूर की भूमिका अहम् होती है। अगर इस दुनिया में मजदूर का नामोनिशान नहीं होता तो क्या किसी भी देश का आर्थिक विकास और उन्नति संभव हो पाती ?



मुझे बाबा साहब भीमराव अंबेडकर का भी स्मरण हो रहा है। उन्होंने कहा था कि मेरी बेचैनी इस बात से और बढ़ जाती है कि क्या भारतीय देश को अपने पंथो– मतों से ऊपर उठा पाएंगे या यह देश पर हावी रहेंगे ? क्या इतिहास स्वयं को दोहरायेगा ? क्या भारत अपने जनतांत्रिक संविधान की रक्षा कर पाएगा या फिर से इसे खो देगा ?

हरेक व्यक्ति को उसके काम का पूरा दाम मिले यह लोक की दृष्टि से और मानवाधिकार की दृष्टि से भी बहुत जरूरी है। अगर ऐसा नहीं किया जाता तो एक तरह से

यह मानव का परिहास ही है। **महात्मा गांधी ने तो इसकी जोरदार वकालत करते हुए कहा था कि जब भी तुम्हारा अहम् हावी होने लगे तो इस कसौटी को आजमाना कि जो कदम तुम उठाने जा रहे हो वह सबसे गरीब और कमजोर आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा ? क्या उसे इसका लाभ मिलेगा ?** आज भी निजी क्षेत्रों में मजदूर १२ घंटे काम करते हैं। जहां तक महिलाओं की मजदूरी का सवाल है फैक्ट्रियों में आज भी महिलाओं को पुरुष के बराबर वेतन नहीं मिलता,जबकि उनसे क्षमता से ज्यादा काम कराया जाता है।

विचार करने की बात यह भी है कि आज भी चोरी-छिपे बालकों से बाल श्रम कराया जाता है। जिससे उनका बचपन छिन जाता है। विश्व शांति और अमन की पहली शर्त भी भाईचारे की शिक्षा हो। यही नहीं इस शिक्षा में विश्व बंधुत्व हो। सामाजिक बंधुता वास्तविक तब बनेगी जबकि समाज में हर एक व्यक्ति में भाईचारे की भावना हो। यह भाव हो कि हम सब भारतीय एक हैं। यह वह सिद्धांत है जो सामाजिक जीवन में एकता लाता है। मुश्किल जरूर है इसे प्राप्त करना।

हम अपने चारों ओर देखें तो पाएंगे कि सारा वातावरण दूषित होता जा रहा है। हमने प्रकृति के साथ छेड़छाड़ करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। प्रकृति ने तो हमें अपार दिया है और देती ही जा रही है पर उसके बदले हमने उसके साथ कैसा खिलवाड़ किया है, कहीं पहाड़ों को तोड़ा है तो कहीं पृथ्वी का दोहन किया है और तो और हमने शुद्ध वातावरण में सांस लेने की परिस्थितियों को भी बदल डाला है। जब सांसों में ही मिलावट है तो हम अपने आप को कैसे बचा पाएंगे? हम आरोग्य की साधना कैसे कर पाएंगे?

हमें एक बार पुन: मुड़कर देखना होगा कि पर्यावरण के निरन्तर क्षरण से पूरी दुनिया कितनी प्रभावित हो रही है और खास तौर से रेगिस्तानी इलाके। इन रेगिस्तानी इलाकों में लोग-जागरण से ही काम चल सकेगा ताकि हम रेगिस्तान में रहने वाले लोगों की तकलीफ से रू-ब-रू हो सकें। उनके संताप को समझ सकें, वहां के पर्यावरण को पहचान सकें, वहां के पर्यावरण की विषमता को समझ सकें। पर्यावरण में सुधार और मरूधर विकास के प्रयत्न जरूर हुए हैं ऐसे में अपुनम मिश्र के प्रयासों को भूला नहीं सकते। उनकी नायाब किताब 'आज भी खरे हैं तालाब' को पुनर्जीवित करने की आज जरूरत है।

विचार करने की बात यह है कि पर्यावरण के बिगड़े हालातों के लिए वायु-प्रदूषण में नियंत्रण के साथ-साथ हमें देश की काली व हिंडन एवं गंगा यमुना नदियों के हालातों पर भी नजर रखनी होगी। नदियों के प्रदूषित होने की चिंता भी अहम विषय है। जहां नदियों की आजादी की चिंता हम सबको करनी है।



विकास के नाम पर बर्बाद होती प्रकृति को जीवनदायिनी बनाना हमारा परम् लक्ष्य हो, तभी बात बन सकेगी। क्योंकि जब मानवीय विकास की बात सामने आती है तब-तब पेड़ों पर कुल्हाड़ी चल पड़ती है। तो आइए, हम सब मिलकर सामाजिक समरसता की ओर अपने कदम बढ़ायें। ❑ **प्रेम गुप्ता**

'विद्या-स्नातक' नहीं, 'व्रत-स्नातक' चाहिए





❑
अव्यक्त

गांधी चिंतक एवं विचारक अव्यक्त जी हिमाचल प्रदेश में रहते हैं। उनकी विनोबा में भी बहुत आस्था है। वे बालकों की विशेष चिन्ता करते हैं और बालकों के साथ समय-समय पर संवाद करने और उनके साथ पोथी वाचन कर प्रेम का, स्नेह का रिश्ता बनाये रखने पर जोर देते हैं अव्यक्त जी। ❑ सं.

मानव समाज अपनी यात्रा में एक विचित्र मोड़ पर खड़ा है। एक तरफ वह प्रौद्योगिकी विज्ञान और संपन्नता के चमत्कारिक प्रदर्शनों पर इतरा रहा है तो, दूसरी तरफ वह विपन्न वर्गों को संरचनागत रूप से आत्महीनता और गुलामी के भँवर में फंसा रहा है। नैतिक दरिद्रता हालाँकि सभी वर्गों में देखी जा रही है, लेकिन संपन्न वर्गों में वह कुछ ज्यादा ही दिखाई देती है। कारण कि भ्रष्टाचरण और पतन के अवसर और साधन भी उनके पास अपेक्षाकृत ज्यादा हैं। दुर्भाग्य से उनकी दिखावेपूर्ण और भोगवादी जीवन-शैली ही अब ग्रामीण समाज के लिए भी आदर्शरूप में स्थापित हो गई है। इन सबके बीच शासक वर्ग किसी भी प्रकार से अधिकाधिक सत्ता और संसाधन को हथियाने की होड़ में शामिल है। भले ही उसके लिए धरतीमात्र का ही विनाश क्यों न करना पड़े। युद्ध, उपनिवेशवाद, प्रोपगैंडा और दिमाग के सत्तानुकूल नियंत्रण के नये तंत्र विकसित हो चुके हैं। शासक-वर्ग के भीतर आपसी प्रतियोगिता भी केवल दिखावे की और सतही रह गई है। इस तरह जनसामान्य की हैसियत अब कठपुतलियों से अधिक की नहीं रह गई है। सारे चकाचौंध, रंग-रोगन, नाच-गानों और खेल-तमाशों के भुलाऊ-उलझाऊ वातावरण के बीच यह सब एक निराशाजनक तस्वीर उभरती है।

कल ही घर में एक बच्ची ने विनोबा की एक कहानी पढ़कर सुनाई। कहानी में किसी बच्चे को कान में दर्द होता है और वह जोर-जोर से रोने लगता है। उसकी आँखों से बेतहाशा आँसू गिरने लगते हैं। उसके पिता उसका मन बहलाने के लिए पूछते है कि दर्द तो तुम्हारे कान में है, तो फिर आँसू तुम्हारी आँखों से क्यों निकल रहे हैं। फिर कथाकार विनोबा ही इसका जवाब देते हैं कि हमारा शरीर चूँकि एक जीवंत संरचना है, इसलिए किसी एक अंग में हुए कष्ट का असर दूसरे अंगों पर पड़ता है। इसी तरह मानव समाज, ग्राम और मोहल्ला आदि भी तभी तक एक जीवंत व्यवस्था कही जाएगी, जब तक उसमें किसी एक मनुष्य या परिवार को हुए कष्ट का असर दूसरों पर भी पड़ता हो। जहाँ मित्र, परिजन, पड़ोसी और सह-ग्रामीण एक-दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझते हों। यहाँ तक कि वह दूर

किसी अन्य देश के अजनबी मनुष्य या प्राणी के दुःख में भी दुःखी होता हो क्योंकि, यह पूरा मानव समाज ही एक जीवंत व्यवस्था है। और इसमें जो भी संस्थाएँ और संरचनाएँ विकसित हुई हैं उनके जीवंत बने रहने के लिए ज़रूरी है कि हममें इतनी संवेदना बची रहे कि हम एक-दूसरे के सुख-दुःख में अपने को स्वः स्फूर्त भागीदार, साझीदार समझें।

परिवार, ग्राम, मोहल्ला, आधुनिक शहरी कॉलोनी या आवासीय सोसायटी, कार्यस्थल, शिक्षण-संस्थान, अस्पताल, न्यायालय, सामाजिक संस्थाएँ और राजनीतिक संगठन, ये सब मानव-निर्मित जीवंत व्यवस्थाएँ हैं। लेकिन आज ये सब निष्प्राण देह की तरह शुष्क और तेजहीन हो गए लगते हैं। १९६५ में विनोबा ने अपने एक संवाद में कहा था कि गांधीजी को गए केवल १७ साल हुए हैं लेकिन उनके द्वारा और उनके नाम पर बनी संस्थाएँ निष्प्राण और निस्तेज हो गई हैं, क्योंकि उनके निकटतम साथी तक आपस में एक-दूसरे से कटुतापूर्ण तरीकों से लड़ रहे हैं। उनके शब्द थे- ''मतभेद होना एक बात है, मत-विरोध होना भी कुछ बात है। लेकिन यह तो मतों की लड़ाई चल रही है।'' आज बात केवल गांधीवादी संस्थाओं की नहीं रह गई है। आज मानव निर्मित हर संस्था उसी प्रकार निष्प्राण और रसहीन होती जा रही है। चाहे वह परिवार हो, दांपत्य और ग्रहस्थ्य हो, पड़ोस और ग्राम हो, विद्यालय चिकित्सालय, सामाजिक संगठन हों या कोई भी कार्यस्थल हो। गौर से देखेंगे तो पाएंगे कि ऐसे हर मानवीय संबंध और संस्थाओं में आत्मसंतोष और आनंद का तत्व कम से कमतर होता गया है।

इसका मूल कारण समझाने के लिए विनोबा ने अन्य महान लोगों द्वारा बनाई गई संस्थाओं का उदाहरण देते हुए कहा था-गांधीजी के अलावा दूसरे भी महान लोग हो गए हैं। उनके संस्थानों का भी उनके बाद यही हाल हुआ। अपनी पदयात्रा के दरम्यान मैं शांति-निकेतन गया था। वहाँ मैंने 'निकेतन' देखा, पर 'शांति' नहीं। मामूली कॉलेज और यूनिवर्सिटी में जो झगड़े होते हैं, वे वहाँ भी थे। रवीन्द्रनाथ को गए अभी २५ वर्ष ही हुए होंगे, लेकिन उनका मुख्य स्थान इसी तरह स्फूर्तिहीन बन गया है। पंडित मालवीय जी ने बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी स्थापित की थी। आज उसके भी क्या हाल हैं?

एक बार मैं विवेकानंद द्वारा रामकृष्ण के नाम से स्थापित किसी संस्थान में गया था। आज वहाँ सरकारी मदद से मामूली काम चलता है।जिस रामकृष्ण परमहंस की अंगुलियों को पैसे के स्पर्श से बिच्छू काटने जैसी पीड़ा होती थी, उनके स्थान में जो भी कुछ निर्माण किया गया, वह सब द्रव्यमय था। और वह भी सरकारी मदद से।

**मतभेद होना एक बात है,
मत-विरोध होना भी कुछ बात है।
लेकिन यह तो मतों की
लड़ाई चल रही है।
आज बात केवल
गांधीवादी संस्थाओं
की नहीं रह गई है।
आज तो मानव निर्मित हर
संस्था उसी प्रकार निष्प्राण और
रसहीन होती जा रही है।**

गांधीजी ने जो मिशन बनाया था वह मिशन के लायक चीज रही नहीं। इसी तरह देखता हूँ कि बापू के दूसरे कामों का मूल रस भी धीरे-धीरे सूख रहा है। इससे मुझे बड़ी वेदना होती है। इस स्फूर्तिक्षय (और झगड़ों) के कारणों पर विचार करने पर दो-तीन बातें ध्यान में आती हैं। हमारी संस्थाओं का जीवन-रस सूखने का एक कारण है-स्वाध्याय का अभाव।

हम लोगों ने कर्मयोग पर जोर दिया, लेकिन बापू, रवीन्द्रनाथ, रामकृष्ण परमहंस या विवेकानंद जैसे लोग आत्मज्ञान में जितने गहरे उतरते थे, उतने गहरे हम नहीं उतरते। इसलिए कार्य के बढ़ने के साथ-साथ हमारी विचार-निष्ठा और तत्त्वनिष्ठा घटती जाती है। हमारे कामों की गठरी भारी होती जाती है, लेकिन उसका तत्त्व उड़ जाता है। मनुष्य चला जाता है, संस्था रह जाती है। फिर वह निस्तेज-फीकी पड़ती जाती है। उसकी दृष्टि छिछली बनती जाती है।

विद्या-स्नात और व्रत-स्नात, इन दो प्रकारों से मनुष्य विद्या-संपन्न होता है। सर्वोदय-विचार भी एक जीवनव्यापी गंभीर विचार है और उसके लिए भी व्रतयुक्त अध्ययन की आवश्यकता है। गांधीजी ने सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि ग्यारह व्रतों पर बहुत जोर दिया। उन्होंने अपना जीवन ही इन्हीं व्रतों के आधार पर रचा था। यद्यपि वे स्वयं अध्ययन का महत्व समझते थे और अपने अंतेवासियों से भी इस विषय पर कहते थे, लेकिन फिर भी अध्ययन पर विशेष जोर देने का

मौका किसी कारण से उन्हें नहीं मिला। ये शब्द थे विनोबा के।

शिक्षण की प्रक्रिया में और नई पीढ़ी के मानस के निर्माण में 'विद्या-स्नात' और 'व्रत-स्नात' का यह फर्क समझने में हमसे बड़ी भूल हो गई। परिणाम हमारे सामने है। हमने स्वयं को और अपनी संतानों को निरा विद्या-स्नात बनाने के लिए घूस-पैरवी-डोनेशन जैसे सारे नैतिक-अनैतिक जतन किए, लेकिन विद्या के मूल तत्व यानी व्रत-निष्ठा को किनारे रख दिया। स्कूलों को अक्षर और गुणा-भाग सिखाने-रटाने का केंद्र बना दिया। महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों को किसी भी भाँति डिग्री हासिल कर किसी भी जुगाड़ से 'नौकरी' हासिल करने का माध्यम भर बना रख छोड़ा। इन संस्थानों के अध्यापकों में आचार्यत्व का विकास भी नहीं हो पाया। आचार्यत्व तो 'आचरण' से आना था। लेकिन हमारे शिक्षण संस्थान 'परोपदेश पांडित्यम' और परीक्षा-पुस्तिकाओं में घिसी-पिटी बातों को दुहराते रहने के उपक्रम में शामिल हो गये।

आज स्थिति यह है कि ज्यादातर छात्रों को शिक्षकों के प्रति नाममात्र की भी श्रद्धा नहीं रही है। स्वयं शिक्षकों को अपने कर्म, अपने संस्थानों और अपने छात्रों में कोई वास्तविक 'श्रद्धा' नहीं रही। मुँह से चाहे हम शिक्षक दिवस और गुरु-पूर्णिमा आदि पर कुछ भी कहते रहें। माता-पिता की भी अपनी संतानों, उनके शिक्षकों और उनके विद्यालयों में कोई वास्तविक श्रद्धा नहीं रही। जीवंत भावपूर्ण संबंध तो बहुत दूर की बात है। सारे संबंध

सारे संबंध व्यावसायिक और यांत्रिक-तांत्रिक होते गए हैं। शिक्षा का हमारा सारा कार्य-व्यापार किसी भी तरह का नौकर पैदा करते रहने की मशीन बनकर रह गये लगते हैं। ये सब कोई अतिवादी मूल्यांकन या गैर-ज़िम्मेदाराना वक्तव्य नहीं हैं। यह अवश्य हो सकता है कि यह सब ठीक से देख-समझ पाने की शक्ति और संवेदना भी हम खोते गये हों।

व्यावसायिक और यांत्रिक-तांत्रिक होते गए हैं। शिक्षा का हमारा सारा कार्य-व्यापार किसी भी तरह का नौकर पैदा करते रहने की मशीन बनकर रह गए लगते हैं। ये सब कोई अतिवादी मूल्यांकन या गैर-ज़िम्मेदाराना वक्तव्य नहीं हैं। यह अवश्य हो सकता है कि यह सब ठीक से देख-समझ पाने की शक्ति और संवेदना भी हम खोते गए हों।

लेकिन अब इसका असर देखने के लिए कहीं दूर नहीं जाना पड़ेगा। अपने आप को तटस्थ होकर देखना शुरू करेंगे तो सब कुछ दिखना शुरू हो सकता है। अपना परिवार, दाम्पत्य, अपनी संतानें और उनका दाम्पत्य, विस्तृत परिवार में अपने परिजनों का ग्रहस्थ्य, संबंधों की मिठास, मित्रों-पड़ोसियों के साथ परस्परावलंबन, फ़ाक़ाकशी में भी मुक्तकंठ से हँसा-ठट्ठा, सामाजिक सुरक्षा तथा आत्मसम्मान का बोध, जीवन में कोई व्यापक उद्देश्य होने और उस महान लक्ष्य के लिए कष्ट उठाने की क्षमता और आत्मप्रेरणा, धन या पद के आधार पर नहीं, बल्कि गुण के आधार पर मनुष्यों का मूल्यांकन, गुप्तदान और पड़ोसियों-ग्रामीणों के साथ बाँट लेने के बाद ही कुछ ग्रहण करने की भावना आदि। क्या हमारी शिक्षण व्यवस्था यह सब बचाने और बढ़ाने का कार्य कर सकी? सीधा, निराशाजनक, लेकिन अपेक्षित उत्तर है- 'नहीं'। आज तो बच्चे 'मातृहस्तेन भोजनम्' तक की बात केवल 'मदर्स डे' पर करते हैं। बाकी दिनों में उन्हें स्विग्गी, ज़ोमैटो और पता नहीं कहां-कहां से आया भोजन ही सुहाता है। इसमें उनका कोई दोष भी नहीं है। माता-पिता के जीवन में जिन चीजों की प्रतिष्ठा और ललक होती है, कमोबेश वही प्रवृत्तियाँ हमारी संतानों में भी आती हैं। वही प्रवृत्तियाँ हमारी जीवन शैली, हमारे सामाजिक और सार्वजनिक उपक्रमों में भी रूढ़ होती जाती हैं।

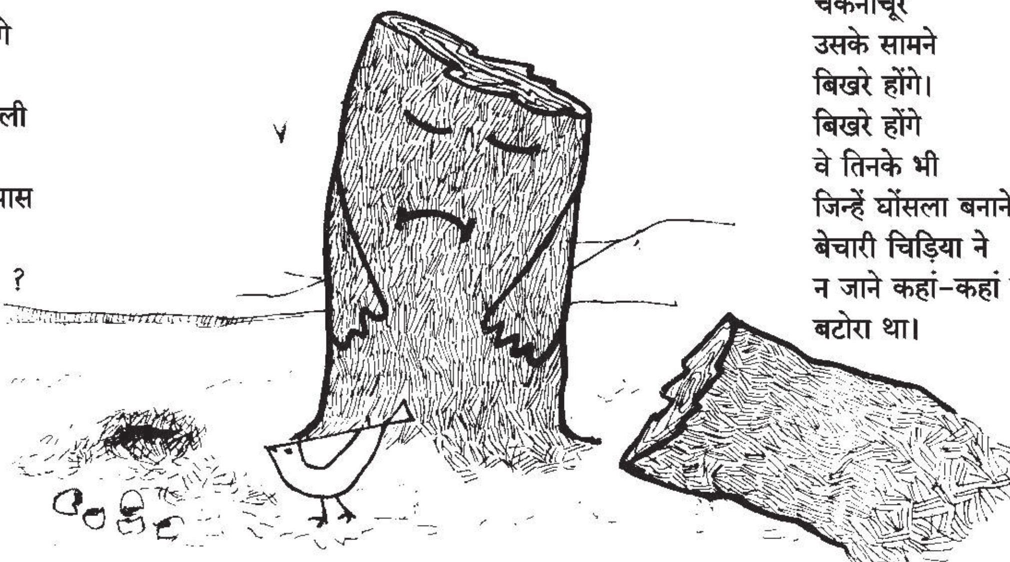
हमने अपने जीवन में जिस भोगवाद, ऊँचे मकान, सज-धज, गाजे-बाजे वाली खर्चीली शादियाँ, नशा और नग्नता को प्रतिष्ठित करने वाले गीत-ग़ज़ल, वस्त्र और गाड़ियों वाले दिखावे, किसी भी विधि अधिकाधिक संग्रह, झूठी पद-प्रतिष्ठा, शानों-शौकत, विदेश यात्रा, विदेशी नागरिकता और फिल्मों में दिखाई जाने वाली कहानियों वाली जीवन-शैली आदि को आदर्श माना, वे ही अब हमारे गले की फाँस बन चुकी हैं। इस आमंत्रित आपदा के लिए जिस प्रकार

की शिक्षा हमने अपनी संतानों को दिलाई, वह मनुष्यता की वास्तविक कसौटी पर सद्-विद्या न होकर ठगविद्या ही ज्यादा थी। उसमें तमस और रजस की ही प्रतिष्ठा थी। सत्व के प्रति ऊपर-ऊपर से एक आदर का भाव था अवश्य, लेकिन भीतर-भीतर से व्यावहारिक स्तर पर एक नकार और भय का ही भाव था।

इसलिए गांधीजी और विनोबा कहते थे कि ''गृहस्थ हो जाने का मतलब अमर्यादित भोग का लाइसेंस मिल जाना नहीं है।'' ऐसा अगर होगा तो भारत जैसे विषमतापूर्ण समाज में तरह-तरह की विकृतियाँ पैदा होंगीं। जिन विकृतियों की मार दुनिया के अन्य भोगवादी समाज पहले से खा रहे हैं, उनसे कहीं ज्यादा मार भारत जैसी विशाल जनसंख्या वाला समाज खाएगा। इसलिए गांधीजी ने 'मंगल-प्रभात' में और विनोबा ने 'अभंग-व्रते' में एक सुपसंपन्न और चैतन्य, लेकिन सात्विक समाज की पूरी व्यावहारिक योजना हमारे सामने रखी। विनोबा के 'शिक्षण-विचार' के मूल में भी उसी एकादश-व्रत की योजना प्रतिध्वनित होती मिलती है। सत्य, प्रतिरोधी और सार्वभौमिक प्रेम, अचोरी, संयमित जीवन-चर्या के साथ महान उद्देश्य, साझा निर्वाह, शरीर-श्रम, रसना-जय के साथ सात्विक सुस्वाद, परस्पर निर्भयता, सर्वपंथ-मम्-भाव, पड़ोसी धर्म के साथ परस्परावलंबन, सभी प्रकार के भेदभाव से मुक्ति और अनिंदा इन बारह व्रतों के आधार पर गांधीजी और विनोबा ने सुंदर जीवन के आनंद का विज्ञान हमारे सामने रखा और उसे अतुलनीय कीर्ति के साथ जीकर दिखाया। यह सत्-चित्-आनंद का विज्ञान था। तभी विनोबा कहते थे कि आनंद-वृद्धि का नहीं, आनंद-शुद्धि का जतन करो। जो ठगविद्या केवल भ्रामक आनंद की वृद्धि पर जोर देती है, उसकी जगह सद्-विद्या की योजना और प्रस्ताव हमारे सामने है। आनंद के वास्तविक और सात्विक तत्वों को हम नए सिरे से समझें। आनंद शुद्धि पर जोर दें। परिवार का वातावरण पूर्णतः सात्विक बनाएँ। उसके लिए जैसा भी बदलाव लाना पड़े, अविलंब लाएँ। अपनी संतानों को विद्या-स्नातक की जगह व्रत-स्नातक बनाने का समझदारी भरा साहसिक मार्ग अपनाएँ। शुरुआत तो प्रौढ़ और बुजुर्ग जनों को ही स्वयं से करनी पड़ेगी। बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुधि लेहु।❑

द्वारा-श्री कैलाशचन्द, ग्राम-कंडबाडी
(कलहोली माता मंदिर के निकट),
पोस्ट-कमलहैड, तहसील-पालमपुर,
जिला-कांगडा-१७६०६१

मगर तुम
चल पड़ोगे घर की ओर
अपनी कुल्हाड़ी की **पैनाई**
धार सहलाते हुए
तुम पीछे मुड़ कर
यही भी नहीं देखोगे
हजारी,
कि लाल चोंच वा**ली**
वहीं चिड़िया
मेरे कटे शरीर के **पास**
किस तरह
विलाप कर रही है **?**



मेरे साथ-साथ
उसकी दुनिया भी तो
उजड़ चुकी होगी
उसके तीनों अण्डे
चकनाचूर
उसके सामने
बिखरे होंगे।
बिखरे होंगे
वे तिनके भी
जिन्हें घोंसला बनाने के लिए
बेचारी चिड़िया ने
न जाने कहां-कहां से
बटोरा था।

सांस्कृतिक हिंसा

❑



❑

राजाराम भादू

भरतपुर जिले के गांव लुधावाई में जन्मे राजाराम भादू वर्तमान में समानान्तर संस्थान के निदेशक हैं और संस्कृति केन्द्रित पत्रिका मीमांसा का संपादन करते हैं। ❑सं.

सांस्कृतिक हिंसा से हमारा अभिप्राय उस हिंसा से है जिसके पीछे प्रत्यक्ष अथवा संरचनागत हिंसा को औचित्य अथवा वैधता सांस्कृतिक पहलुओं और प्रचलित प्रतीक-विधानों से दी जाती है, जिन्हें धर्म व विचारधारा, भाषा व कलाओं, आनुभाविक व औपचारिक विज्ञानों (तर्क, गणित) आदि का सहारा मिल जाता है।

इनमें सांस्कृतिक प्रतीक चिह्न -सितारे, क्रॉस, अर्धचन्द्र, झंडे, पताकाएं, प्रार्थनाएं व पवित्र पुस्तक, सैन्य-परेड, नायकों की मूर्तियों व तस्वीरें, भड़काऊ भाषण और पोस्टर इत्यादि ध्यान में आते हैं। ध्यान रहे कि इसमें संस्कृति के कुछ पहलू होते हैं, समस्त संस्कृति नहीं होती है। एक व्यक्ति किसी हत्यारें को यह कहकर उकसा सकता है कि 'हत्या मुक्ति का मार्ग है'। इससे यह तो होता है कि जिस भाषा में यह बोला गया है, वह भाषा इस विचार को व्यक्त कर सकती है, किन्तु, इसका मतलब यह नहीं है कि वह एक हिंसक भाषा है। कोई भी संस्कृति समग्र रूप से शायद ही हिंसक कही जा सके। इसीलिए यही कहना बेहतर होगा कि अमुक संस्कृति के अमुक पहलू सांस्कृतिक हिंसा के उदाहरण के रूप में देखे जा सकते हैं। किसी समूची संस्कृति की ऐसी रूढ़ छवि नहीं निर्मित की जा सकती।

दूसरे शब्दों में संस्कृति के किसी संदर्भित हिंसक आयाम का विश्लेषण उसके विशेष रूप में ही किया जाना चाहिए, भले ही यह दूसरी संस्कृति से सीधे टकराव में हो। ये रूप भिन्न विरूपित और विस्तारित हो सकते हैं।

आरंभ से ही 'सांस्कृतिक हिंसा' के निषेध पर भी विचार करना चाहिए। यदि हिंसा का विपरीत शांति है और उससे जुड़ी विषयवस्तु शांति-शोध, शांति-अध्ययन इत्यादि होंगे, तो सांस्कृतिक हिंसा का विपर्यय सांस्कृतिक शांति होगा, जिसमें हमें ऐसे सांस्कृतिक पक्षों को खोजना होगा जो प्रत्यक्ष और संरचनागत शांति को औचित्य और वैधता प्रदान कर सकें। यदि किसी संस्कृति में हमें ऐसे बहुत सारे पक्ष मिल जाते हैं, तो उसे 'शांति' की संस्कृति' कहा जा सकता है। ऐसी संस्कृति की खोज अथवा निर्मिति शांति चाहने वालों के लिए एक दीर्घकालिक कार्यभार है।

सांस्कृतिक हिंसा प्रत्यक्ष और संरचनागत-दोनों तरह से परिलक्षित होती है, इस तथ्य को गलत नहीं ठहराया जा सकता। जैसे राजनीति शास्त्र दो मुद्दों पर विचार करता है-शक्ति का प्रयोग और शक्ति के प्रयोग का औचित्य-प्रतिपादन, उसी तरह शांति-अध्ययन भी दो मुद्दों पर विचार करते हैं-हिंसा का प्रयोग और हिंसा के प्रयोग

का औचित्य-प्रतिपादन। इस सोच के आंतरिकीरण का भी एक मनोवैज्ञानिक तंत्र है। सांस्कृतिक हिंसा के अध्ययन यह बताते हैं कि किस तरह प्रत्यक्ष हिंसा की कार्रवाई और संरचनागत हिंसा के तथ्य को उचित साबित किया गया और उसे सामाजिक स्वीकृति हासिल हुई। सांस्कृतिक हिंसा एक तरह से किसी कृत्य के रंग को बदलने का काम करती है, वह इसे लाल (गलत) से हरा (सही) अथवा कम-से-कम सहज - नैतिक स्वीकार्य रंगने का काम करती है।

उदाहरण के लिए, सांस्कृतिक हिंसा में एक हत्या को एक हिंसक कृत्य के तथ्य के रूप में नहीं देखते, कम-से-कम उसकी क्रूरता को तो नजर अंदाज कर ही देते हैं। हिंसा के दूसरे रूपों के बारे में भी ऐसी ही धारणा पायी जा सकती है। ऐसी स्थिति में इस तरह की हिंसा के संदर्भों को समझना जरूरी है।

हिंसा में मनुष्य के अपमान से लेकर उसे बुनियादी जरूरतों से वंचित कर देना तक अनेक चीजें शामिल है। इसमें व्यक्ति को उसकी वास्तविक और संभावित आवश्यकताओं को पूरा करने में अवरोध पैदा किया जाता है। उसके जीवन को किसी भी तरह की आशंका अथवा भय उत्पन्न करनातो हिंसा है ही। दुनिया भर में मनुष्य की आवश्यकताओं को चार भागों में बांटा गया है और उनसे हिंसक कार्रवाइयां भी जुड़ी हुई हैं। ये है : जीवन की आवश्यकताएं (निषेध: मृत्यु, हत्या), स्वस्थ रहने की आवश्यकताएं (निषेध: कष्ट, रुग्णता) अस्मिता के अर्थ से संबंधित आवश्यकताएं (निषेध: अलगाव) और स्वतंत्रता से जुड़ी आवश्यकताएं (निषेध: दमन)। इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य की स्वाभाविक जरूरतों को हिंसक कार्रवाइयां बाधित कर सकती हैं। इनमें मनुष्येतर चीजें शामिल नहीं है। प्रकृति-चक्र में गड़बड़ी भी इनमें से किसी भी आवश्यकता को प्रभावित कर सकती है, इसलिए, पर्यावरण की अनुकूलता भी मनुष्य के जीवन के लिए अनिवार्यता है तो प्रकृति को भी हिंसा से बचाना होगा। इन क्षेत्रों को हिंसा से सुरक्षित करने के बाद ही हम कह सकते हैं कि हमने 'शांति' कायम कर ली है। यदि हम पर्यावरण-संतुलन को शांति में शामिल मानकर चलें तो इसके व्यापक क्षेत्र में सभी जीवित प्राणी और निर्जीव वस्तुएं आएंगी।

अभी तक हम हिंसा को जीवन, और वह भी मानव-जीवन, के संदर्भ में ही देखते रहे हैं। इसी के साथ यह सवाल भी उठता है कि आखिर पर्यावरण का संतुलन किससे है ? आर्थिक गतिविधियां किस स्तर तक और कितनी संख्या में हों ? किसके लिए पर्यावरण का पुनरुत्थान हो ? यदि प्रकृति के सभी हिस्से बराबर हैं, तो किस स्तर तक और कितनी संख्या में बराबर होंगे ? और क्या फिर ये दोनों के लिए नहीं होंगे ?

असल में, हिंसा के लिए जो शब्द प्राय: प्रयुक्त किए जाते हैं, वे अपना निहितार्थ खो चुके हैं। स्थिति को सही से दर्शाने के लिए हत्या करने के मायने लोगों को खत्म कर देना अथवा जनसंहार है। इसी तरह उत्पीड़न को धीमी मौन हत्या की तरह समझा जाना चाहिए। किसी को अलगा देने का मतलब उसकी आत्मा को मार देना है। दमन का मतलब अत्याचार है। इसी तरह, जिसे पर्यावरण में गिरावट कहा जाता है, उसका मतलब प्रकृति का संहार है। इन सबके लिए कोई एक शब्द देना मुश्किल है, यह व्यापक विनिष्ट है। हमने पिछले ५० वर्षों की व्यापक हिंसक घटनाओं को ही शब्दों के दायरे में में बांधने की कोशिश की है। अक्सर हिंसा के अध्ययन भी शांति अध्ययनों के साथ ही किए जाते हैं, वहां भयावह यथार्थ को गहराई से जानने-समझने की जरूरत है। ❑

(प्राकृत भारती अकादमी की तरफ से प्रकाशित पुस्तक 'सांस्कृतिक हिंसा' का एक अंश।)

८६, मानसागर कॉलोनी, श्योपुर रोड्
प्रताप नगर, जयपुर-३०२०३३
मो.९८२८१६९२७७

जड़ों को फिर से टटोलना होगा







भावना भट्ट

भावनगर की बाल चिंतक भावना भट्ट आज की शिक्षा प्रणाली से प्रभावित बालकों की चिंता जताते हुए उन्हें ऐसी शिक्षा देने की मांग करती हैं जिनमें बालाकें की रूचि हो, ऐसी शिक्षा जो कला से, संस्कृति से जुड़ी हो। भावना भट्ट का यह लेख हमें एक बार फिर जड़ों की ओर देखने, समझने का अवसर देता है। ❑ सं.

आजकल समाज में हो रही घटनाएँ मन को झकझोरती हैं। हर जगह दंगे, फसाद, बलात्कार, चोरी, भ्रष्टाचार.. कौन कौन से नाम लें और किसे छोड़े ?

क्या हालत हुई है हमारें भारत की ? किस ने की है ? कौन है आखिर जिम्मेदार ? सब का जवाब मेरे विचारों से एक ही है और वो है हमारी शिक्षा प्रणाली।

बचपन में सुनी थी वो पंचतंत्र की बातें । और पंचतंत्र की कहानियों के जन्म की बातें। एक राजा के पुत्र को सुधारने के लिए लगातार कही गई कहानियों का समूह है पंचतंत्र की कथाएँ।

आज भी हर बच्चे को कहानी सुनना पसंद है। कहानियां जो उसके भाव विश्व को पोषित करती हैं मगर आज कहानियां है कहाँ ? कौन कहेगा उसे कहानी ? माता-पिता को फुरसत नहीं है और घर की दादी 'ओल्ड एज होम' में रहने को मजबूर हुई है।

जब अंग्रेजों ने भारत में कदम रखा तब देखा कि भारत की जड़ें मजबूत है क्योंकि संस्कारों से सींची हुई है। यहाँ का हर बच्चा संस्कृत और संस्कृति से जुड़ा हुआ है। यहाँ हर घर में हो रहा है भगवद गीता का अभ्यास जो उन के मनोबल को दृढ़ करता है। अगर शासन करना है तो उनके मन को गुलाम बनाएं ऐसी शिक्षा प्रणाली बनानी होंगी। यही सोच के साथ मैकोले ने जो दी वो शिक्षा प्रणाली में एक छोर से घुसता बच्चा जब दूसरे छोर से बाहर आता था तब उनका ज़मीर मर जाता था और वो एक गुलाम होकर खड़ा रहता था अंग्रेजी अमलदारों के सामने। उन्हें तो चाहिये थी, कारकूनों की फ़ौज !

अंग्रेज़ो के अत्याचारों ने और उनकी ही शिक्षा प्रणाली से त्रस्त लोगों के समूह ने उन्हें तो मार भगाया मगर अब भी हमारें भारत की मनोदशा में गुलामी की वो जड़ें मौजूद है।

सिर्फ़ कारकुन बनाने वाली उस शिक्षा प्रणाली को आज भी हमने ज्यों की त्यों बरकरार रखा है। आज भी हमारे बच्चे ऐसी स्कूलों में दाखिल होते है जहाँ यूनिफॉर्म में सज, टाई, शूज़ की कैद में जब अपने दोनों हाथ पीछे रखकर कतारों में सर झुकाकर चलते है, तब हम उसकी डिसिप्लिन की बात का गर्व करते हुए सब को ये कहते हुए फूले नहीं समाते कि हमने हमारे बच्चों को शहर की सब से महँगी स्कूलों में दाख़िल किया है। एक ही पाठ को सौ बार लिखने वाले बच्चे स्कूल से निकल कर ट्यूशन की कैद में और फिर?

लिखते हुए हाथ कांप रहे है मगर यह भी सत्य है कि काँच की बोतलों में बंद की हुई तितलियाँ आखिर दम तोड़ ही देती है । उसमें रहें मानवीय मूल्यों का क़त्ल हो जाता है । और हम तालियां बजाते रहते है। जब अंदर का आक्रोश अपनी सीमाओं को तोड़कर समाजिक जीवन को कलुषित करता है तब हम दोष देने के लिए कोई चेहरा ढूंढते रहते है। कभी सुरक्षा प्रणाली को तो भी न्याय प्रणाली को दोषी ठहराकर अपने आप को बेगुनाह साबित करने में लगे रहते हैं।

यह बहुत ही कटु सच है कि आज की शिक्षा प्रणाली केवल और केवल मार्क्स को महत्त्व देती है। बच्चे जैसे रेस के घोड़े होकर दौड़ते रहते हैं। मीडियम चाहे कोई भी हो शिक्षा प्रणाली एक जैसी ही है। वहाँ बचपन खिलता नहीं है और न ही अपनी इच्छा से पनपता है। ईश्वर का हमारे भरोसे इस सृष्टि में भेजा हुआ एक फूल खिलने के बदले मुरझा जाता है।

क्या है इस का हल? मुझे लगता है हमें हमारी **जड़ों को फिर से टटोलना होगा।** हमारी वो शिक्षा प्रणाली जो हमारें ऋषियों की देन थी उसे फिर से कार्यान्वित करना होगा।

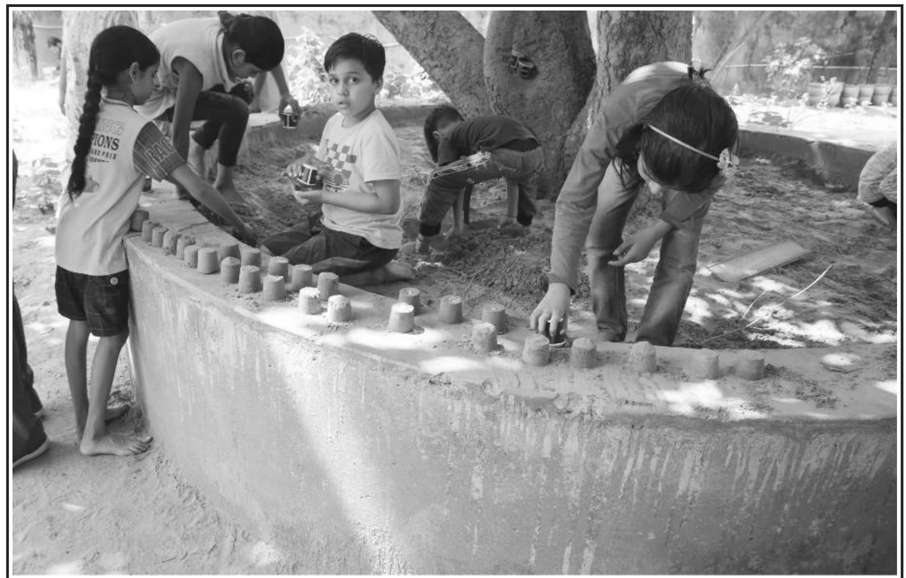
शिक्षा और विद्या अलग है। लगता है शिक्षा का मतलब केवल अक्षर ज्ञान है। जबकि विद्या के साथ आत्मा से जुड़ा हुआ आनंद भी अभिप्रेत है। जैसे कि एक प्रार्थना अगर मुखपाठ करवाई जाएं तो शिक्षा है मगर, इसे भाव से गाया जाए, साथ में शिक्षक की आँखों में अगर इसे गाते वक़्त कृतज्ञता के आँसू या हल्की सी नमीं आ जाए तो, हो सकता है बच्चे शायद उस बात को समझने की उम्र के न भी हों मगर, उस के मन में ये बात तो अवश्य जाएगी की मैं जिसे जानता नहीं हूँ ऐसा कुछ तो है। जहाँ तक मुझे पहुँचना है। तो ये बच्चा बड़ा होकर समाज में भार रूप नहीं बनेगा मगर हो सकता है वो कल का गांधी, इशु, पैग़म्बर, या बुद्ध, नानक, राम बनेगा। शिक्षा में विषय कोई भी हो उस में कला को जोड़ना होगा। मतलब शिक्षा को विद्या से जोड़ना होगा।

सालों पहले विनोबा जी ने कहा था कि सच्चे भारत का निर्माण अगर करना हो तो एक ही सरकार एक ही खाता और एक ही प्रधान चाहिए और वो है शिक्षा खाता, और शिक्षा प्रधान। अगर हम अपनी शिक्षा प्रणाली को सही कर लें तो सुरक्षा या न्याय या किसी भी प्रकार के खाते की जरूरत नही होंगी। समाज अपने आप सुचारू अवस्था में चलने लगेगा।

सरकार कुछ करे न करे मगर मेरा सभी शिक्षकगण और माता-पिता से नम्र निवेदन है कि कृपया बच्चों को विद्या से जोड़ें। उन को जो भी कला में रस रुचि है उस में आगे बढ़ने दें।

ईश्वर की बगिया के इन फूलों को खिलनें दें। माली बनें। मालिक बनने से जरूर बचें। बच्चे कल का भारत है और शिक्षकों के साथ शिक्षित माता-पिता युग निर्माता है। बस अपना धर्म निभाएं तो कल का भारत एक नया भारत होगा। कल फिर कोई बच्चा विवेकानंद,भगतसिंह या सरदार होगा। हमारा भारत दुनिया की शान होगा, दुनिया का सरताज़ होगा।❑

तलाजा रोड,प्लाट नं. २२२३/के
इलाहाबाद बैंक के सामने,
निर्मल प्लाजा,
हिल ड्राइव एरिया,
भावनगर,
गुजरात-३६४००२
मो.-९८९८९९१४१३



'... तो हम भी हो सकते हैं बुद्ध'



प्रातः भ्रमण के समय मैं कनेर का एक पुष्प रोज़ तोड़ता था। ज्योंही पुष्प को शाख से अलग करता उधर टूटने की हल्की सी आवाज़ होती और इधर मन की कोई तह उधड़ जाती। अंतस की उद्विग्नता चेहरे पर पसर जाती। मेरा प्रत्येक प्रभात इस तरह टूटन की पीड़ा के प्रभाव में रहता। दिन के प्रकल्पों में भी उसकी ध्वनि रह-रह कर गूंजती रहती।

सूर्य को अर्घ्य देने के लिए जल के साथ पुष्प का प्रयोग अनिवार्य लगता था। एक आध्यात्मिक उपक्रम पूर्ण होने का थोड़ा सुखबोध भी होता। किन्तु साथ ही किसी ध्वंश का उत्तरदायी बनने का भारी पीड़ाबोध भी होता।

एक दिन, सूरज के उगने से बहुत पहले, हमेशा की भांति प्रातःभ्रमण को निकला। पुष्प चुनने के लिए कनेर की ओर कदम बढ़े। उसके पास जाकर मैंने अपना हाथ सुकोमल फूल की ओर बढ़ाया। जैसे अचानक कुछ घटित हुआ। सहमी हुई डाल जैसे मुझे देख रही थी। करुणा से आर्द्र कनेर की सुकुमार काया हवा के झोकों से लहराते हुए जाने कुछ कह रही थी। मैं रुक गया। मेरा हाथ ठहर गया। मैंने पुष्प पर एक प्रेमभरी दृष्टि डाली तथा डाल को नेह से निहारा। न जाने क्या हुआ कि मेरा हाथ हट गया वहां से। एक पुष्प का पेड़ से अलग होना रुक गया। विछोह का एक शोक गीत रोज लिखा जाता था, आज वह क्रम रुक गया।

लगा सूरज की अज्ञात प्रसन्नता के लिए पुष्प और प्रकृति की प्रत्यक्ष पीड़ा का भागी बनता रहा था मैं। आज पुष्प को न तोड़ने के मेरे निर्णय में मानो नमी उतर आई। मैं मुस्कुरा उठा। वह सृजन को बचाए रखने की ख़ुशी थी शायद। वह प्रेम से परिपूर्ण प्रकृति से समरस होने का अपूर्व आनंद था। जैसे बुद्ध मुस्कुरा दिये हों।

दैनिक जीवन में जरूर कुछ क्षण आते हैं, जब हम बुद्ध हो जाते हैं। उन क्षणों में हम मुस्कान लिए हुए उन जैसे ही शांत और करुणा से ओतप्रोत हो जाते हैं। पर वह क्षणिक बुद्धत्व है, पलभर का बोध है। बुद्ध सदैव उसके धारक हैं, इसलिए वे बुद्ध हैं।

खंडित हुआ बुद्ध-तत्व आपस में जुड़ जाये, हर प्रकल्प में पुष्प जैसा ही प्रेम उतर आए, तो हम भी हो सकते हैं बुद्ध। बुद्ध की मुस्कान हर क्षण के आनंद की परिचायक है। हम किसी एक-आध क्षण के लिए वैसा निस्सीम सुख प्राप्त कर सकते हैं, करते भी हैं। यदि उसके सातत्य के लिए अभ्यास हो, तो हम भी बुद्ध बनने का सामर्थ्य रखते हैं।❑

२६१, एबी, अमरावती नगर, जोधपुर-३४२०१४



❑
दशरथ कुमार सोलंकी

लेखक राजस्थान वित्त सेवा के अधिकारी हैं और मन से ऐसे कवि हैं जो प्रकृति को अपने भीतर स्पंदित और अनुभूत करता है, उससे प्रेम करता है।
उनके अब तक तीन काव्य संग्रह 'अनुभूति', 'कि आदमी का मरे नहीं पानी...' और 'उजास के अर्थ' प्रकाशित हो चुके हैं।❑ सं.

बुद्धम् शरणम्





❑
हूबनाथ पाण्डेय

मुंबई विश्वविद्यालय के एसोसियेट प्रोफेसर डॉ. हूबनाथ पाण्डेय कवि, लेखक और आलोचक हैं।❑ सं.

सच कहा
तथागत

ज्ञान तो होता है
पंडितों के पास
जिसे बाँध रक्खा है
दीमक खाई पोथियों में।

तुम्हें ज्ञान चाहिए होता
तो जाते
पंडितों की शरण
पोथियों की पनाह में।

किंतु
जान गए थे तुम,
निरर्थकता
तथाकथित ज्ञान की।

जो जानता तो था
आत्मा को, ब्रह्म को
पर पहचानता नहीं था
मनुष्य को
मनुष्य की पीड़ा को

इसलिए
तुम चले
ज्ञान की विरुद्ध दिशा में
पोथियों के पहाड़ के
ख़िलाफ़
बोधि की ओर।

बोध
तटस्थ नहीं होता
स्वायत्त भी नहीं
आत्मकेंद्रित
बिलकुल भी नहीं।

बोध
जोड़ता है जन से
जन-गण-मन से
जीवन से
स्वर्ग से नहीं।

बोध
जोड़ता है
ज़मीन से
मिट्टी से
मिट्टी जैसे लोगों से
मिट्टी में मिलने से पहले

बोध
ले जाता है
मुक्ति की दिशा में
पूरे बंधन के साथ
मुक्ति में कुछ छूटता नहीं
सब साथ-साथ चलता है

सबके साथ-साथ चलना
सबके दुखों को सहना
जीवमात्र पर करुणा
ख़ुद को सब में
सब में ख़ुद को समझना
यही तो निर्वाण है!
है न तथागत !

चुप रहनेवाला

चुप रहनेवाला
कभी दुखी नहीं होता
कभी शिकायत नहीं करता
आलोचना नहीं करता

चुप रहने के
हज़ार फ़ायदे
चुप रहनेवाले से
कोई नहीं झगड़ता
किसी को कष्ट नहीं होता

चुप रहनेवाला
सबको अच्छा लगता है
सबको अच्छा लगने
निहायत ज़रूरी है
चुप रहना

दस हज़ार साल पहले
मनुष्य ने जब
बोलना सीखने की
शुरुआत की
तब उसे नहीं पता था
बोलने से कहीं बेहतर है
चुप रहना

दस हज़ार साल बाद
ऋषियों की पावन भूमि पर
यह ज्ञान मिला
कि चुप रहनेवाला
सरकार गिराने के आरोप में
आधी रात को
गिरफ़्तार नहीं होता

डॉक्टर कहता है
जनम से बहरा व्यक्ति
जनम से गूंगा हो जाता है
गूंगा होने के लिए
बहरा होना अनिवार्य है

ज्ञानियों का मानना है
जीवन के किसी भी मोड़ पर
थोड़े से प्रयास से
बहरे हो जाओ
गूंगापन ख़ुद आ जाता है

बहरा होने का दूसरा फ़ायदा
कुछ हद तक
अंधापन आ जाता है
आप वही देख पाते हो
जो आंख के आगे है
और हर आंख की
एक सीमा तो होती ही है

और अगर बोलना हो जाए
बेहद ज़रूरी
और जेल भी न जाना हो
तो या तो वर्दी पैदा करो
या गर्दी पैदा करो
या कुर्सी पैदा करो
इनमें से कुछ भी पैदा न कर
पाओ
तो बनकर शिखंडी
रक्षा करो
सत्ताधारी अर्जुन की
युद्धोपरांत
पद पुरस्कार प्रतिष्ठा
कुछ भी असंभव नहीं
अप्राप्य नहीं

अतः अनुभवियों की मानो
और चुप रहो
और बोलना ही पड़े
तो ऐसा बोलो
जिसका कोई अर्थ न हो
तकलीफ़ बोलने में नहीं
अर्थ से है
अर्थ चाहिए
तो अर्थ से बचो
चुप रहो
ख़ुश रहो!❑

सी-६०१,कृष्णा गलैक्सी,
दत्त मंदिर रोड, वाकोला-सांताक्रुज (ई)
मुम्बई-४०००६६



शिक्षा में स्वास्थ्य







प्रेमपाल शर्मा

सुप्रसिद्ध शिक्षाविद् प्रेमपाल शर्मा दिल्ली में रहते हैं। रेल मंत्रालय के उच्च अधिकारी के पद से सेवा निवृत्त शर्मा के आज की शिक्षा व्यवस्था पर कई लेख प्रकाशित हो चुके हैं। शिक्षा के समााजिक सरोकार पर इनकी पुस्तक भी प्रकाशित हो चुकी है। ❑ सं.

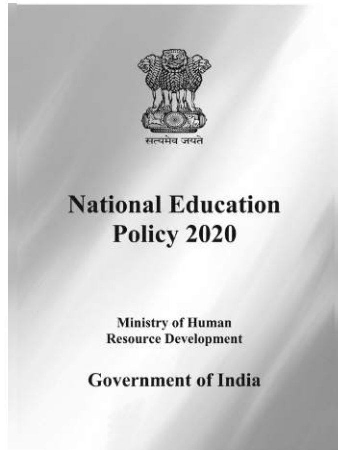
स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क निवास करता है। बचपन में हमारे स्कूलों की दीवारों पर लिखी यह इबारत रोजाना के स्कूली दिनचर्या में भी प्रतिबिंबित होती थी। स्कूल की शुरुआत प्रार्थना और फिर लगभग १५ मिनट पीटी, और उसके बाद कोई देश विदेश के मुख्य समाचार या स्कूल की गतिविधियों की जानकारी से होती थी। कुछ राज्यों के सरकारी स्कूलों में यह अभी भी कुछ-कुछ हो रहा है लेकिन महानगरों, नगरों के निजी महंगे स्कूलों में बिल्कुल नहीं। जबकि महानगरों के थुल-थुल होते बच्चों के लिए तो फिजिकल ट्रेनिंग जैसे नियमित व्यायाम की जरूरत और भी ज्यादा होती है। गांव-देहात के बच्चे तो आसपास से दो चार किलोमीटर पैदल चलकर आते हैं। खेती किसानी के कामों में हाथ बंटाते हैं, शहरी बच्चे तो इन कामों से उतना ही दूर होते चले गए हैं। जितनी ज्यादा अमीरी उतना ही कम शारीरिक श्रम। यहां तक कि नवोदय, केंद्रीय विद्यालयों में भी इसका सख्ती से पालना नहीं होती। दिल्ली जैसे शहर में योग आदि का ढोल पीटा जाता है लेकिन हकीकत में ना तो कराया जाता और ना उसे करना इतना आसान। योग करने के लिए एक अच्छा फर्श चाहिए, दरी चाहिए और विशेष प्रशिक्षित शिक्षक भी यानी कई तरह के झमेले। जब कि पीटी में सावधान विश्राम और खड़े-खड़े पांच छः आसान व्यायाम पर्याप्त रहते हैं। यहां पीटी का योग से तुलना का मकसद नहीं है। इतना रेखांकित करना है कि अच्छी शिक्षा अपने आसपास उपलब्ध सुविधाओं और उनकी हकीकत से संचालित हो तभी उसका उद्देश्य पूरा होता है और बच्चे और अभिभावक ज्यादा खुशी से शामिल होते हैं।

कोई भी समाज या देश अपनी परंपराओं और आधुनिक बोध को आत्मसात करते हुए ही बेहतर ढंग से आगे चलता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन ने तो कहा भी है कि मैं अपने पुरखों के कंधों पर बैठा हुआ हूं। पुराने अनुभवों वैज्ञानिकों से सीखते हुए ही मैं आगे बढ़ने में सक्षम हुआ हूं। आजादी के दौर में या उसके तुरंत बाद जब ज्यादातर स्कूली शिक्षा सरकारी नियंत्रण में थी तो बहुत सोच विचार कर पीटी जैसी चीजें शामिल की गई थी लेकिन निजी स्कूलों ने जो सरकारी स्कूलों की आधी से ज्यादा आबादी को अपने में शामिल कर चुके हैं, ज्यादातर इसे समय की बर्बादी माना और धीरे-धीरे उससे दूर होते चले गए हैं। उसकी जगह नए-नए टोटके एरोबिक्स, चांटिंग,हेल्थ प्रोजेक्ट के नामों से करते हैं। ताकि अमीर बच्चों से ज्यादा फीस वसूल कर सकें। महात्मा गांधी जैसे महापुरुषों की नई तालीम का असर भी प्रार्थना और व्यायाम में साथ था। गांधी जी का कहना था कि यह देश गरीब ज्यादातर है और इसीलिए इसमें ऐसे खेल और व्यायाम शामिल होने

चाहिए जो बिना किसी अतिरिक्त पूंजी या खर्च के सभी लोग कर सकें। वे तो अपने हाथ से काम करने, खेती का काम करने वाले, चरखा चलाने वाले कामों को भी शिक्षा में खेल और व्यायाम का हिस्सा मानते थे ।

नई शिक्षा नीति में वोकेशनल शिक्षा और मातृभाषा पर तो फिर भी ध्यान दिया गया है, पीटी और व्यायाम जैसे पक्ष शायद ओझल हो गए है । अच्छा होता शिक्षा मंत्रालय भारतीय स्कूलों की पुरानी व्यवस्था से सीखते हुए इसे सभी निजी और सरकारी स्कूलों में तुरंत अनिवार्य बनाता। यह भी देखने की जरूरत है कि सिर्फ आदेश या सर्कुलर जारी करने से काम नहीं चलने वाला । सीबीएसई बोर्ड ने कुछ वर्ष पहले ऐसा सर्कुलर जारी किया था कि बच्चों से स्कूल की सफाई आदि में हाथ बंटाने के लिए कहा जाए । यह अच्छा कदम था लेकिन अभिभावकों, निजी स्कूलों ने तो इसका विरोध तक किया और सरकारी स्कूलों में भी इस सर्कुलर को कार्यान्वयन के स्तर पर, वह सम्मान नहीं मिला जितना मिलना चाहिए था। देखा जाए तो डिग्निटी ऑफ लेबर-श्रम का महत्व शिक्षा में ऐसे ही कदमों से चुपचाप शामिल हो जाता है। हाथ से काम करने वालों के प्रति उनके कष्टों का एहसास भी बच्चों को होना ही चाहिए ।

नवोन्मेष, मॉडर्न एजुकेशन के नाम पर नित नये प्रयोग करने की होड़ तो लगी हुई है लेकिन स्पष्ट दृष्टि के अभाव में हम यह नहीं बता पा रहे हैं कि हमें जाना कहां है ? उसका मुख्य कारण



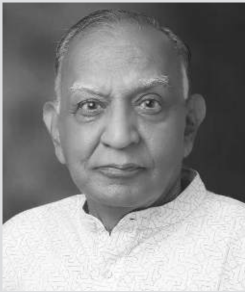
नई शिक्षा नीति २०२० में वोकेशनल शिक्षा, मातृ भाषा पर तो फिर से ध्यान दिया गया है पीटी व्यायाम जैसे पक्ष शायद ओझल हो गए है । अच्छा हो शिक्षा मंत्रालय भारतीय स्कूलों की पुरानी व्यवस्था से सीखते हुए इसे सभी निजी और सरकारी स्कूलों में तुरंत अनिवार्य बनाए ।

यह है कि नीति-निर्माता और नौकर-शाह दोनों ही देश की समस्या और गरीबी से बहुत ऊंचे मचान पर बैठे हैं। किसी वक्त स्कूलों में हमारे एक ऐसी किताब आठवीं तक अनिवार्य थी जिसमें लगभग ५० महापुरुषों के जीवन परिचय होते थे। उसमें देशभक्ति, समाज सेवा, नैतिक आचरण, ईमानदारी, साहस, त्याग, विश्व भावना सब कुछ आ जाता था । क्या सिर्फ किसी किताब का नाम देशभक्ति पाठ्यक्रम रख देने से वह उद्देश्य पूरा कर पायेगी? वैसा ही हैप्पीनेस के नाम पर एक बनावटी किताब बनी है। एनसीईआरटी के पाठ्यक्रम में पूरक पुस्तकें या अच्छे पुस्तकालय या पूर्वक सामग्री की बहुत सारी किताबें पढ़ने का सुझाव पहले से ही उपलब्ध है। स्कूल और शिक्षक ध्यान दें तो उनसे बेहतर शिक्षा दी जा सकती है। कोरोना महामारी को देखते हुए अगली पीढ़ी के स्वास्थ्य को शिक्षा की केंद्रीय भूमिका में रखना होगा और उसके लिए पीटी जैसे आसान विकल्पों को तुरंत लागू किया जाये। आठवीं तक के लिए स्वास्थ्य और भारतीय बीमारियों आदि के बारे में डॉक्टरों तथा वैज्ञानिकों द्वारा विशेष रूप से तैयार की गई स्वास्थ्य की किताबें भी पाठ्यक्रम में शामिल होनी चाहिए। ❑

९६, कला विहार अपार्टमेंट, मयूर विहार
फेज वन एक्सटेंशन, दिल्ली ९१ .
मोबाइल ९९७१३ ९९०४६

बुकर पुरस्कार
मूल रचना और अनुवाद







जवरी मल्ल पारख

दिल्ली निवासी पारख अवकाश प्राप्त हिन्दी के प्रोफेसर, लेखक तथा मीडिया शिक्षक हैं। ❑सं.

हिन्दी कथाकार गीतांजली श्री को उनके उपन्यास 'रेत-समाधि' के अंग्रेजी अनुवाद 'टूंब ऑफ सैंड' को २०२२ का अंतर्राष्ट्रीय बुकर पुरस्कार प्रदान किया गया है। यह अनुवाद डेजी रॉकवेल ने किया है। पुरस्कार की राशि जो पचास हजार पौंड है, मूल रचनाकार और अनुवादक के बीच बराबर बांटी जायेगी। यह पुरस्कार उस बुकर पुरस्कार से अलग है जो अंग्रेजी में लिखी गयी मूल साहित्यिक रचनाओं पर मिलता है और अरुंधती राय, सलमान रश्दी आदि को भी प्राप्त हुआ है। यह बात सही है कि यह दूसरा पुरस्कार जो गीतांजली श्री को मिला है, वह अंग्रेजी से इतर भाषा में लिखी गयी कृति के अंग्रेजी अनुवाद को मिलता है। अनुवाद पर पुरस्कार साहित्य अकादमी भी देता है जो भारतीय भाषाओं की पुस्तकों के अन्य भारतीय भाषाओं के अनुवाद को दिया जाता है। साहित्य अकादमी ने यह पुरस्कार अभी कुछ वर्षों पहले ही शुरू किया है जिसका मकसद भारतीय भाषाओं में आदान-प्रदान को प्रोत्साहित करना है। अंतरराष्ट्रीय बुकर पुरस्कार का मकसद भी यह है कि अंग्रेजी से इतर भाषाओं की उत्कृष्ट साहित्यिक रचनाओं को अंग्रेजी के माध्यम से अंग्रेजी भाषायी समाज तक पहुंचाना। यू के और आयरलैंड में छपने की शर्त भी शायद इसीलिए है कि यू के



और आयरलैंड के पाठकों तक पुस्तक आसानी से पहुंचे। इस तरह की शर्त में कुछ भी गलत नहीं है। साहित्य अकादमी के अनुवाद पुरस्कार से यह पुरस्कार इस मायने में भिन्न है कि साहित्य अकादमी केवल अनुवादक को ही पुरस्कार देती है, मूल रचनाकार को नहीं जबकि अंतरराष्ट्रीय बुकर पुरस्कार मूल रचनाकार को भी पुरस्कार की आधी राशि देता है। इसका कारण शायद यह है कि बुकर के दोनों पुरस्कार अंग्रेजी लेखन और अंग्रेजी अनुवाद के लिए दिया जाता है। दोनों पुरस्कार अंतरराष्ट्रीय इसलिए है कि पुरस्कार के लिए लेखक और अनुवादक की राष्ट्रीयता की बंदिश नहीं लगायी गयी है और अनुवाद के लिए भाषा की बंदिश नहीं है। साहित्य अकादमी भारतीय भाषा में लिखी गयी रचनाओं पर अलग से पुरस्कार देती है इसलिए अनुवाद की पुस्तक पर अनुवादक को पुरस्कार देना और मूल रचनाकार को नहीं देना कुछ हद तक तर्कसंगत है क्योंकि अगर वह पुस्तक मूल रचना के रूप में भी श्रेष्ठ होगी तो या तो उसको साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिल चुका होगा और अगर ऐसा नहीं हुआ है लेकिन अनुवाद पुरस्कार योग्य है तो उसे पुरस्कृत करने से वंचित करना कतई उचित नहीं है।

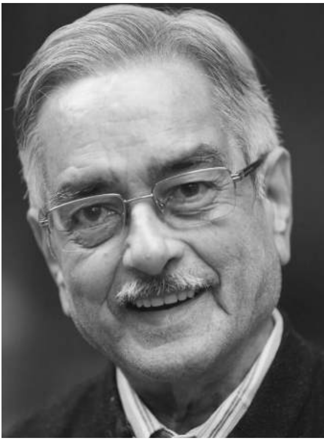
तकनीकी रूप से यह सही है कि हिंदी की मूल रचना 'रेत-समाधि' को पुरस्कार नहीं मिला है बल्कि 'रेत-समाधि' के अंग्रेजी अनुवाद को पुरस्कार मिला है। अंतरराष्ट्रीय बुकर पुरस्कार समिति ने पुरस्कार की राशि को मूल रचनाकार के साथ आधा-

साहित्य अकादमी के अनुवाद पुरस्कार से यह पुरस्कार इस मायने में भिन्न है कि साहित्य अकादमी केवल अनुवादक को ही पुरस्कार देती है, मूल रचनाकार को नहीं जबकि अंतरराष्ट्रीय बुकर पुरस्कार मूल रचनाकार को भी पुरस्कार की आधी राशि देता है। इसका कारण शायद यह है कि बुकर के दोनों पुरस्कार अंग्रेजी लेखन और अंग्रेजी अनुवाद के लिए दिया जाता है।

आधा बांटने का प्रावधान रखकर उन्होंने दो महत्त्वपूर्ण काम किये हैं। एक तो उस मूल रचना को और उस भाषा को जिसमें रचना की गयी है, को भी बराबर का सम्मान दिया है। यानी कि वे यह कहना चाहते हैं कि अनुवाद भले ही कितना महत्त्पूर्ण क्यों न हो, लेकिन न तो मूल रचना की और न ही उस भाषा की उपेक्षा की जानी चाहिए जिससे अनुवाद किया गया है। यह इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि एक बिल्कुल भिन्न भाषायी समाज में अन्य भाषा की एक कृति अंग्रेजी अनुवाद के माध्यम से ही नहीं पहुंचती, वह भाषा और उस भाषा का लेखक भी पहुंचता है, जिससे अनुवाद किया गया है। यह भाषाओं के बीच लोकतांत्रिक संबंधों की अभिव्यक्ति भी है। साहित्य अकादमी को भी अपने अनुवाद पुरस्कारों में मूल रचनाकार को भी पुरस्कृत करने की परंपरा डालनी चाहिए इसलिए नहीं कि वह अपनी भाषा की श्रेष्ठ कृति है बल्कि इसलिए कि उसे एक उत्कृष्ट अनुवाद के लिए चयनित किया गया है।

क्या पुरस्कार सबसे उत्कृष्ट कृति को मिलता है, यह सवाल ही गलत है। पुरस्कार तीन-चार-पांच लोगों की समिति करती है और उन्हें केवल उन्हीं कृतियों में से चयनित करना होता है जिन्हें विभिन्न चरणों से गुजरते हुए पुरस्कार का अंतिम निर्णय लेने वाली समिति तक पहुंचना होता है। पुरस्कार के लिए पुस्तक पर विचार करने की पहली शर्त यही होती है कि वह बुकर पुरस्कार देने वाली संस्था तक पहुंचे। वे पुस्तकें जो (मान लीजिए) पुरस्कृत पुस्तक से उत्कृष्ट हैं, इसलिए वंचित रह जाती हैं क्योंकि उनका अंग्रेजी में अनुवाद नहीं हुआ है, या अनुवाद तो हुआ है, लेकिन यू के या आयरलैंड से प्रकाशित नहीं हुई है या अगर हुई भी है, तो लेखक, अनुवादक या प्रकाशक तक बुकर संस्था तक नहीं पहुंचायी गयी है। साहित्य अकादमी भी अंततः उसी किताब को पुरस्कृत करती है जिसे उस भाषा के लिए बनायी गयी समिति के सामने विचार करने के लिए रखा गया है। मुमकिन है कुछ अच्छी किताबें छूट गयी हो और यह भी मुमकिन है कि जिसे पुरस्कार के लिए चुना गया है, वह उत्कृष्ट हो, लेकिन ऐसा कोई नियम नहीं है और न हो सकता है कि उसे सभी उत्कृष्ट माने। इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि पुरस्कारों की

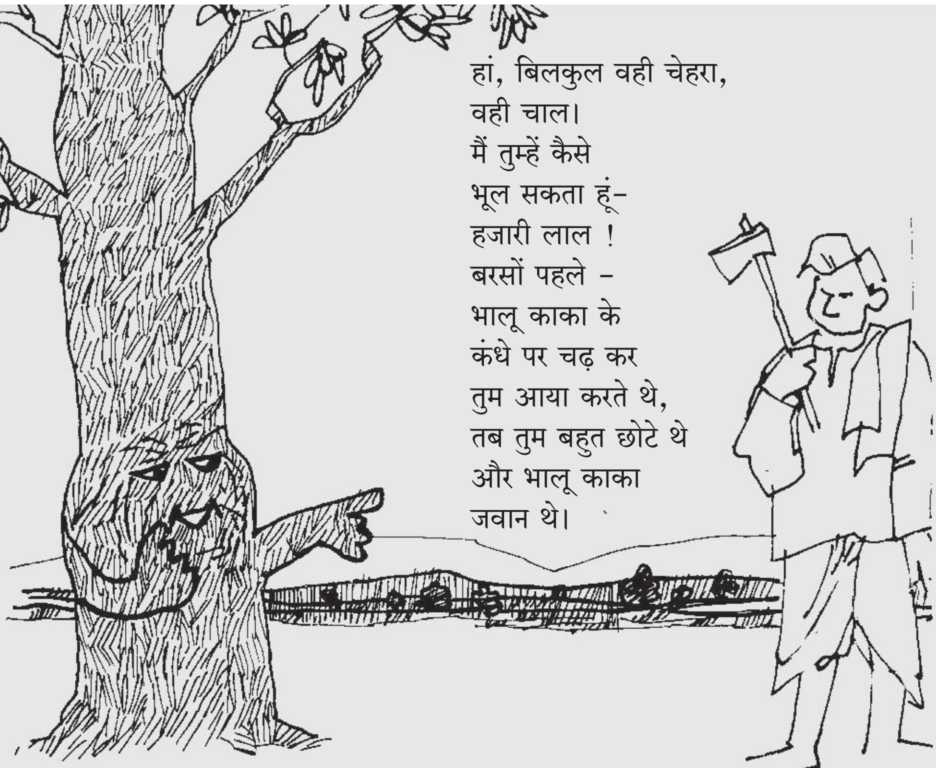
अपनी राजनीति भी होती है। लेकिन इस राजनीति के बावजूद भी कुछ अच्छी रचनाओं और रचनाकारों को पुरस्कार मिलता रहा है। दुनिया के बहुत से महान लेखकों को पुरस्कार नहीं मिला है और बहुत से लेखकों को मिला भी है, और कुछ ऐसे भी महान लेखक हैं जिन्होंने पुरस्कार ठुकराये भी हैं। पुरस्कार नहीं अंतत: रचना ही अपनी आंतरिक शक्ति के बल पर लंबे समय तक जीवित रहती है, यदि प्रत्येक रचना को पूर्ण आज़ादी के साथ अधिकतम लोगों तक पहुंचने के अवसर उपलब्ध हों। खतरनाक बात यह है कि हम ऐसे समय में जी रहे हैं जहां लोगों के अभिव्यक्ति के अधिकार को, उनकी रचनात्मकता को कुचलने की कोशिश की जा रही है, जबकि ज़रूरत हर भाषा में लिखे गये साहित्य का प्रसार अधिक से अधिक लोगों के बीच हो, बिना किसी रोक-टोक के। अनुवाद इसका सशक्त माध्यम है और इसी अर्थ में मूल रचना पर निर्भर होते हुए भी वह रचनात्मक भी है और स्वतंत्र विधा भी। ❑



प्रयाग शुक्ल

यह गीतांजलि श्री का ताजा-उपन्यास है, और इसमें ग़ज़ब की ताजगी है। इसमें मेरे लिए बहुत-सी कविताएं भी हैं। गद्य में सही। नाटक और फ़िल्म दृश्य हैं। चित्र हैं। संस्मरण हैं। यात्राएं हैं। रोज का उठना-बैठना-चलना फिरना है। चित्रकार रामकुमार भी हैं, रफ़ी-किशोर भी हैं, किसी संदर्भ में। और 'रीबाक' जूतों वाला प्रसंग तो आज के सत्ता खेल की खाल उधेड़ देता है। सबको टटका बना दिया गया है। मैं तो कोई भी पन्ना उठाता हूँ, और पढ़ने लगता हूं। उसमें कुछ देखी-जानी कहानियां, बातें भी जुड़ने लगती हैं। मैं भी उसमें कुछ अपना और लिखने लगता हूं, मन ही मन!

यह उपन्यास भरोसा दिलाता है कि यह सांसों पर कब्जा करने वालों, उनको कुचलने वालों के, खिलाफ़ है। खुली सांस की ज़रूरत महसूस करते हुए ही, इस उपन्यास को पढ़ने का आनंद है। ❑



स्वैच्छिक दासता–सविनय अवज्ञा ही मुक्ति का उपाय

❑
राजेन्द्र बोड़ा

प्राकृत भारती अकादमी ने महात्मा गांधी की १५०वीं जयंती के अवसर पर अहिंसा–शांति ग्रंथमाला का प्रकाशन शुरू किया है जिसमें हिंसा और अहिंसा–शांति के विविध सूक्ष्म रूपों और उनकी पृष्ठभूमि में सक्रिय मनोवैज्ञानिक सांस्कृतिक आधारों को समझने और हिंसा के इन रूपों से उबरने के उपायों और विकल्पों से संबंधित एक से बढ़ कर एक पुस्तकें प्रकाशित हो रही है। सबसे उत्तम बात यह है कि पुस्तकों की इस में श्रृंखला छापी जा रही किताबों की भाषा में प्रामाणिकता के साथ संप्रेषणीयता का भी ध्यान रखा जा रहा है क्योंकि अहिंसा विमर्श की जरूरत केवल बौद्धिक वर्ग को ही नहीं बल्कि जन साधारण को भी है। कवि, नाटककार, आलोचक, अनुवादक, अहिंसा दर्शन, गांधी विचार और मानवाधिकार विमर्श के अध्येता नंदकिशोर आचार्य इस अहिंसा शांति ग्रंथमाला का संपादन कर रहे हैं।

इस अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथमाला की पुस्तकों के नवीनतम सेट में एक विलक्षण पुस्तक 'स्वैच्छिक दासता' का प्रकाशन हुआ है जिसका लेखक एतिने द ला बोइसी एक मौलिक सवाल करता है कि लोग किसी तानाशाह या अन्यायी शासन की आज्ञा क्यों स्वीकार कर लेते हैं और जवाब भी देता है कि ऐसा किसी कायरता के कारण नहीं, बल्कि प्रतिरोध करने की अनिच्छा या उदासीनता के कारण होता हैं। अन्याय को स्वीकार करने के लिए हमारा स्वैच्छिक समर्पण इसके लिये उत्तरदायी होता है।

एतिने द ला बोइसी (१५३०–१५६३) सोलहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध राजनैतिक विचारक हुए हैं। उन्हें आधुनिक राजनैतिक विमर्श में 'सविनय अवज्ञा' , सिविल नाफरमानी' अथवा 'पैसिव रेजिसटेंस' की अवधारणा का प्रतिपादक माना जाता है। फ्रांस के ओरलींस विश्वविद्यालय में कानून की पढ़ाई करते हुए बीस बाईस वर्ष के बोइसी के मन में यह सवाल उठा तो उसने उस पर एक लंबा मौलिक विचारोत्तेजक निबंध 'दि डिस्कोर्स ऑफ वॉलंटरी सर्विट्यूड' लिख दिया जो उसके छोटे ३३ वर्ष के जीवनकाल में तो प्रकाशित नहीं हो सका लेकिन लेखक के निधन के बाद उसके घनिष्ट मित्र और प्रसिद्ध फ्रांसीसी निबंधकार मोंतेन ने उनके इस निबंध तथा अन्य रचनाओं का प्रकाशन करवाया। इस लेख ने दुनिया में भविष्य में होने वाले अहिंसात्मक प्रतिरोधों और उन पर विचार करने वाले राजनीतिक दार्शनिकों को आकर्षित ही नहीं किया बल्कि, गहरे प्रभावित भी किया।



अहिंसा विमर्श की जरूरत केवल बौद्धिक वर्ग को ही नहीं बल्कि जन साधारण को भी है ।

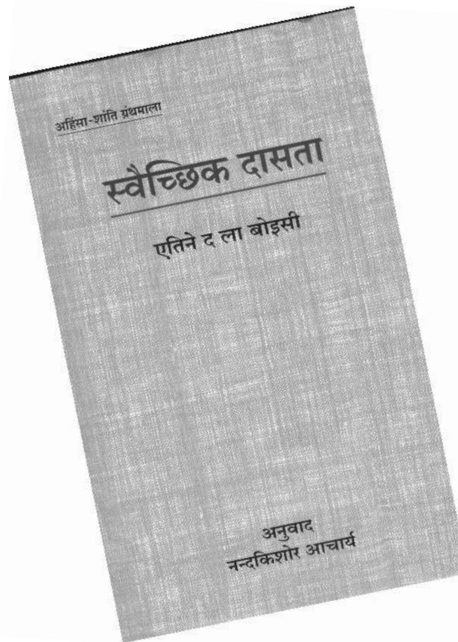
सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक आधारों पर अहिंसा की अधिकारपूर्वक व्याख्या करने वाले नंदकिशोर आचार्य ने इस पुस्तक में बिना अकादमिकता का त्याग किए बोइसी के निबंध का हिंदी में सरल सुंदर अनुवाद ही प्रस्तुत नहीं किया है बल्कि अपनी लंबी सरस भूमिका में उसके विभिन्न आयामों की विवेचना करते हुए उन राजनीतिक

दर्शनों तथा धाराओं को भी रेखांकित किया है जो उनसे प्रभावित हुई। वे इस पुस्तक को आधुनिक राजनैतिक विमर्श में सविनय अवज्ञा या असहयोग को सैद्धांतिक आधार प्रदान करने वाली प्रथम बीज पुस्तक बताते है।

आचार्य के अनुसार बोइसी के विश्लेषण का निष्कर्ष यह है कि लोग कायरता या शक्ति के सम्मुख बाध्यता के कारण नहीं, बल्कि स्वेच्छा से, दासता को स्वीकार कर लेते हैं। बोइसी के विचार से निर्वाचित सत्तासीन भी अपनी निरंकुशता या उसे पैतृक शासन में बदलने के लिए वैसे ही उपाय करते हैं जैसे सत्तासीन तानाशाह करते हैं। ये उपाय प्रजा को स्वतंत्रता की धारणा से इतना दूर ले जाते हैं कि उसकी स्मृति तक नष्ट हो जाये।

आचार्य जी किताब की अपनी भूमिका की शुरुआत एक सवाल से करते हैं, लोग कानून का पालन क्यों करते है? वे कहते हैं कि इस सवाल का सीधा सरल उत्तर तो यही हो सकता है कि कानून के पीछे राजसत्ता की शक्ति होती है, जो प्रत्येक नागरिक को उसे न मानने पर दंडित कर सकती है। जब धर्म सत्ता भी उसके नियमों को, जो उसके कानून ही होते हैं, न मानने वालों को दंडित करने का अधिकार रखती है, तो वह, प्रकारान्तर से, राजसत्ता का ही एक रूप हो जाती है। इसलिए, उस सीधे सरल उत्तर में एक प्रतिप्रश्न खड़ा हो जाता है कि राजसत्ता का आदेश मानने को भी लोग क्यों बाध्य हो जाते हैं। लाखों लोग क्यों किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह के आदेशों का स्वैच्छिक पालन करने लग जाते हैं – ऐसे आदेशों

बोइसी के विचार से निर्वाचित सत्तासीन भी अपनी निरंकुशता या उसे पैतृक शासन में बदलने के लिए वैसे ही उपाय करते हैं जैसे सत्तासीन तानाशाह करते हैं।



का भी जो स्वयं उनके हितों पर आघात करने वाले और अन्यायपूर्ण हों? यह सवाल एकतंत्रीय अथवा तानाशाही शासन को लेकर ही नहीं, लोकतांत्रिक तरीके से निर्वाचित शासकों को लेकर भी उठता है, क्योंकि ऐसा देखा गया है कि लोकतांत्रिक पद्धति से निर्वाचित शासक भी कई बार व्यवहारतः तानाशाह हो जाते हैं – लोकतंत्र या निर्वाचन केवल एक औपचारिकता भर हो कर रह जाते हैं।

बोइसी के शब्दों में यह सही है कि शुरू में लोग बाध्यता अथवा बल प्रयोग के कारण समर्पण करते हैं, लेकिन, उनके बाद आने वाले बिना किसी अफसोस के आज्ञापालन अधिक स्वेच्छा से करने लगते हैं जो उनके पूर्वजों ने किसी बाध्यता के तहत किया होता है।

आचार्य जी कहते हैं कि यदि कोई तानाशाही शासन दासातजन्य वफादारी को ही एक नैतिक प्रतिमान के रूप में समाज में प्रतिष्ठित करने में सफल हो जाता है, तो कई निर्भय या निर्लोभी लोग भी ऐसी दासता को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर लेते हैं और गर्वपूर्वक आज्ञापालन करने लग जाते हैं। गुलामी एक सांस्कृतिक आयाम ग्रहण कर लेती है।

आचार्य जी का मानना है कि सविनय अवज्ञा या असहयोग के विमर्श और आंदोलनों पर बोइसी के इस निबंध का गहरा प्रभाव पड़ा है। तोलस्तोय तो उनसे स्पष्टतः प्रभावित थे ही, इसलिए थोरो और महात्मा गांधी के विचारों पर भी उनका अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य पड़ा होगा, क्योंकि दोनों ही तोलस्तोय से प्रभावित रहे हैं।

पुस्तक की भूमिका में कहा गया है कि बोइसी के असहयोग या सविनय अवज्ञा का सर्वाधिक व्यावहारिक और सफल प्रयोग हमें महात्मा गांधी के सत्याग्रह आंदोलनों में मिलता है; यद्यपि, यह कहना मुश्किल है कि वे बोइसी से अभिज्ञ थे अथवा नहीं। गांधी जी के लेखन में कहीं भी बोइसी का उल्लेख नहीं है। लेकिन, अहिंसक प्रतिरोध संबंधित दोनों के

विचारों में कुछ मूलभूत समानता अवश्य देखी जा सकती है। दोनों में महत्वपूर्ण फर्क यह है कि बोइसी की अवधारणा व्यावहारिक राजनैतिक उपाय मात्र है जबकि गांधी का सत्याग्रह एक आध्यात्मिक आयाम भी रखता है।

आचार्य जी के अनुसार बोइसी का दृढ़ विश्वास था कि तानाशाही या अन्य के साथ प्रजा का स्वैच्छिक सामूहिक असहयोग अथवा उसके आदेशों की सामूहिक नागरिक अवज्ञा, दरअसल, अपने आप में स्वतंत्र हो जाना ही है, क्योंकि गुलामी अन्यायी के आज्ञापालन में है – चाहे वह स्वैच्छिक हो या बलात् । बोइसी के लिये न्याय – अन्याय का विचार कानून के आधार पर नहीं, बल्कि नैतिक स्तर का है। इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य जी महत्वपूर्ण बात कहते हैं कि कानून अपने आप में अन्यायपूर्ण हो सकता है, होता है, इसलिए न्याय का विचार कानून के आधार पर नहीं बल्कि नैतिक स्तर पर होना चाहिए। एक तानाशाही शासन भी कानून बनाता है। कोई भी राज्य अपनी सत्ता को कानूनों के माध्यम से टिकाये रखता है; लेकिन यदि कानून ही अन्यायपूर्ण है तो उनकी अवज्ञा करना प्रत्येक स्वतंत्र और न्यायप्रिय नागरिक का न केवल अधिकार है, बल्कि कर्तव्य भी, क्योंकि स्वतंत्रता केवल अधिकार नहीं, एक उत्तरदायित्व भी है। अधिकार इस उत्तरदायित्व को निबाहने के प्रयोजन को पूरा करने के लिए अनिवार्य है। यदि स्वतंत्रता एक अधिकार है तो वह किसी एक व्यक्ति का नहीं, बल्कि सभी का समान अधिकार है। वह अधिकार इसलिए है

बोइसी हमें सावधान करते हैं कि निर्वाचित सत्तासीन भी तानाशाही रवैया अपना सकते हैं और हमें बैलों की तरह हांक सकते हैं। नंदकिशोर जी कहते हैं कि बोइसी का यह विचार दूर तक सही है कि सत्ता प्राप्त करने के तरीके से भी अधिक महत्वपूर्ण सत्ता का प्रयोग है। इसलिए, अन्यायपूर्ण या अत्याचारी सत्ता अथवा कानून से मुक्त होने के लिए उसे हटाना या बदलना एक आस्तितविक आवश्यकता है।

क्योंकि वह एक मूल्य है और इसलिए किसी अन्य की स्वतंत्रता पर आघात उस मूल्य पर आघात है और उस मूल्य की हर कीमत पर रक्षा और पोषण करना प्रत्येक स्वतंत्र व्यक्ति का दायित्व हो जाता है।

इसलिए, आचार्य जी कहते हैं कि बोइसी का आग्रह केवल निजी स्वतंत्रता के लिए नहीं, तानाशाही और अन्याय से सभी की मुक्ति के लिए है। इसीलिए, वह सामूहिक असहयोग की मांग करते हैं। सामूहिक समर्पण जिस तरह गुलामी का रूप है, उसी तरह सामूहिक असहयोग स्वतंत्रता का। बोइसी हमें सावधान करते हैं कि निर्वाचित सत्तासीन भी तानाशाही रवैया अपना सकते हैं और हमें बैलों की तरह हांक सकते हैं। नंदकिशोर जी कहते हैं कि बोइसी का यह विचार दूर तक सही है कि सत्ता प्राप्त करने के तरीके से भी अधिक महत्वपूर्ण सत्ता का प्रयोग है। इसलिए, अन्यायपूर्ण या अत्याचारी सत्ता अथवा कानून से मुक्त होने के लिए उसे हटाना या बदलना एक आस्तितविक आवश्यकता है। लेकिन यह कैसे हो ? बोईसी यहीं अपना दिखने में सरल किन्तु अत्यंत प्रभावी उपाय सुझाते हैं, जिसके लिए लोकतान्त्रिक और अहिंसक प्रतिरोध का इतिहास उनका सदैव ऋणी रहेगा।

बोइसी अपने निबंध में आह्वान करता हैं कि मैं तुम्हें अत्याचारी की गर्दन पर हाथ डालने के लिए नहीं कहता; बस यही कि तुम उसे समर्थन देना बंद कर दो; और उस पीठिका के हटते ही वह किसी विशाल प्रतिमा की तरह अपने ही भार से भरभरा कर टुकड़े-तिकडे हो जाएगा।

आचार्य जी गांधी के पहले भी विश्व में और भारत में हुए सफल अहिंसक आंदोलनों के दृष्टांत देते हुए बताते हैं कि इन आंदोलनकारियों को बोइसी के विचारों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं था, पर उसके द्वारा सुझाया गया रास्ता केवल काल्पनिक और अव्यावहारिक नहीं, बल्कि ठोस राजनैतिक यथार्थ की भूमि पर स्थित था।

बोइसी के इस बीजकोषीय निबंध का कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। हिंदी में इतना श्रेष्ठ अनुवाद नंदकिशोर आचार्य ही कर सकते थे। उनके पास गहन अध्ययन की पूंजी ही नहीं है बल्कि, सुलझी हुआ वैचारिक समझ और तर्कपूर्ण प्रस्तुति का कौशल भी है।❑ **'विराम' ६०/१७ रजत पथ, मानसरोवर, जयपुर-३०२०२०**

समिति : नई टीम ने कमान संभाली



देश और समाज के सामने उपस्थित गहरी आर्थिक, सामाजिक और वैचारिक चुनौतियों के बीच शिक्षा के नए सरोकारों के साथ राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति की कमान एक ऐसी टीम ने संभाली है जिसमें लंबा अनुभव रखने वालों तथा हौसले से लबरेज़ संजीदा युवाओं का अद्भुत समन्वय है।

आपसी सद्भाव, समझ और समन्वय की अपनी विरासत को आगे बढाते हुए समिति के साधारण सभा के सदस्यों ने पिछली २२ मई २०२२ को अपने त्रैवर्षिक चुनावों में यह नई टीम सर्वसम्मति से चुनी।

नई टीम चुनने से पहले उसी दिन साधारण सभा की नियमित बैठक भी हुई जिसमें इसके सदस्य कोरोना महामारी के दुर्दिनों के बाद पहली बार उत्साह के साथ आपस में मिले। इस मिलन में पिछली बैठक से अब तक की अवधि में हम से बिछड़ गये साथियों – समिति के अध्यक्ष रमेश थानवी तथा सचिव अरविन्द ओझा, पूर्व अध्यक्ष शुभु पटवा, के साथ हमेशा सक्रिय रहने वाले सदस्य सदाशिव राम शर्मा, श्रीलाल मोहता, श्याम सुंदर नंदवाना और भंवर सिंह चौधरी का ग़म भी था।

यह बैठक रमेश थानवी की जगह अध्यक्षता का कार्य संभाल रही आशा बोथरा की अगुवाई में हुई जिसमें अरविन्द ओझा के दिवंगत हो जाने के बाद सचिव पद का काम संभाल रही सुनीता तंवर ने पिछली बैठक का प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। कोषाध्यक्ष अविनाश भार्गव ने समिति का २०२१–२२ तथा २०२२–२३ का बजट भी इस सभा में प्रस्तुत किया।

साधारण सभा की कार्यसूची में सबसे प्रमुख काम समिति की नई कार्यकारिणी का चुनाव करना था जिसके लिए प्रशासनिक सेवा के पूर्व अधिकारी आर. सी. जैन चुनाव अधिकारी नियुक्त किए गये थे। उन्होंने निर्वाचन की विधिवत प्रक्रियाओं को अपनाते हुए अपने काम को अंजाम दिया। उनका काम आसान हो गया जब सभी पदों पर एक–एक नामांकन ही रह गये। इस प्रकार उन्होंने नई कार्यकारिणी के पदाधिकारियों तथा सदस्यों के निर्विरोध निर्वाचन की घोषणा की। ❑



साक्षरता कार्यकर्ताओं का एक दिवसीय फॉलोअप प्रशिक्षण



सामाजिक युवा संगठन संस्थान के कार्यकर्ताओं का साक्षरता शिक्षण के प्रशिक्षण के लिए एक दिवसीय फॉलोअप ९ मई, २०२२ को राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति, जयपुर में आयोजित किया गया। इससे पहले कार्यकर्ताओं के दो प्रशिक्षण आयोजित किए जा चके थे। पहला प्रशिक्षण ३ दिसम्बर, २०२१ व दूसरा १५-१७ दिसम्बर, २०२१ को आयोजित किये गये थे। ये प्रशिक्षण साक्षरता शिक्षण पर आधारित थे। सभी कार्यकर्ताओं ने जाना कि साक्षरता शुद्ध जागरण है। साक्षरता सजगता बढ़ाती है। जागृति करती है। **प्रौढ़ों व बालकों के पढ़ना सीखने में अंतर है।** प्रौढ़ों के पास जीवन के अनुभव हैं। उस अनुभव को पढ़ने से जोड़ना। प्रौढ़ों को पढ़ाने के लिए प्रवेशिकाएं बनायी गयी हैं। आओ सीखें आखर प्रवेशिका की जानकारी दी गई। साथ ही प्रवेशिका के माध्यम से कैसे पढ़ाया जाना है उसे चरणबद्ध तरीके से सिखाया गया व समूह में प्रत्येक पाठ का अभ्यास कराया गया।

प्रशिक्षण के पश्चात तीन साक्षरता केन्द्र संचालित किये गये। इन केन्द्रों पर ३०-३० महिलाएं नामांकित हुईं। महिलाओं को पढ़ना लिखना सिखाया गया। चार माह तक महिलाओं ने नियमित पढ़ना सीखा। एक केन्द्र से ५ महिलाएं ड्राप आउट भी हुई। इसका कारण मजदूरी व खेतों में काम करना रहा। इस बीच केन्द्रों का दो बार अवलोकन भी किया गया। महिलाएं पढ़ने के लिए उत्साहित थीं। चाहती थीं कि वे पढ़ना सीख जाएं। यही कारण रहा कि वे नियमित पढ़ने आती रहीं। चार माह पश्चात ९ मई, २०२२ को फॉलोअप प्रशिक्षण आयोजित किया गया। प्रशिक्षण में मुख्य रूप से शिक्षण कार्य के अनुभव को जानना व समस्याओं को जानकर, समाधान तलाशना था। साक्षरता मूल्यांकन, पोथी घर संचालन व ग्राम सखी संवाद कार्यक्रम संबंधी आगामी कार्य योजना बनाना था।

कार्यकर्ताओं ने बताया कि पढ़ना लिखना सीखने के दौरान प्रारंभ में महिलाओं को कठनाई हुई। विशेषकर मात्राएं भूल जाती थीं। प्रारंभ के ४-५ पाठों तक पढ़ने में महिलाओं को कठनाई हुई। प्रतिदिन के अभ्यास से पढ़ना सीखना सरल लगने लगा। परिवार में बच्चों ने भी पढ़ने में मदद की। सीखा हुआ नियमित बना रहे, वे भूलें नहीं, इसके लिए अभ्यास की आवश्यकता है।

महिलाओं के साथ कौशल विकास संबंधी गतिविधियों के आयोजन पर चर्चा की। महिलाओं में जो भी कौशल है, उसकी पहचान करें, उससे संबंधित कार्य करवायें। जैसे कि मेंहदी, सिलाई, पुराने कपड़े से पायदान व अन्य घरेलु उपयोगी सामान बनाना, किचन गार्डनिंग आदि।

प्रशिक्षणार्थियों से पोथी घर संचालन व ग्राम सखी संवाद के संबंध में चर्चा की। समिति के नवसाक्षर साहित्य की ७० पुस्तकों का सेट व कानूनी साक्षरता संबंधी फोल्डर व पुस्तकों के एक-एक सेट सभी कार्यकर्ताओं को दिये। महिलाओं के बीच इन पुस्तकों को पढ़ें। उनसे पढ़वायें। चर्चा करें।

यह एक दिवसीय फॉलोअप प्रशिक्षण कार्यकर्ताओं को बहुत उपयोगी लगा। आगे कार्य करने की दिशा व जानकारी मिली। ❑



एक और पोथी–घर जामडोली में

श्री रमेश थानवी की स्मृति में पोथी घर का शुभारंभ किया गया। यह दूसरा पोथी घर राजकीय बौद्धिक दिव्यांग महिला एवं बाल पुनर्वास गृह जामडोली में राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति, इरादा और नाना नानी न्यास के सहयोग से खोला गया है। इस पोथी घर से ३०० बालक लाभान्वित होंगे। पुस्तकों का उपयोग बौद्धिक रूप से दिव्यांग बच्चों के लिए किस प्रकार हो इस पर भी विद्यालय के शिक्षकों से बात हुई। बालकों के बौद्धिक स्तर को ध्यान में रखकर पुस्तकों का चयन किया गया है। ये पुस्तकें तीन भागों में विभाजित हैं।



पहली श्रेणी में वे पुस्तकें हैं जिनमें केवल चित्र हैं। ये उन बालकों के लिए हैं जो पढ़–लिख नहीं सकते। दूसरी जिनमें चित्रों के साथ थोड़ी पाठ्य सामग्री है और तीसरी जो पढ़ना लिखना जानते हैं उनके लिए है। पहले चरण में १५० किताबें बाल पोथी घर में रखी गई हैं।

विद्यार्थियों के साथ भी संवाद किया गया। बच्चों ने बहुत आत्मीय भाव से अपनी बनाई कशीदाकारी, चित्रकला और अपनी लेखनी भी दिखाई।

इस अवसर पर श्रीमती नीलम अग्रवाल और श्रीमती विमला निगम ने सभी बालकों को उपहार भेंट किये।❑



ओम कुवेरा बीकानेर समिति के अध्यक्ष बने



बीकानेर प्रौढ़ शिक्षण समिति, बीकानेर द्वारा ३ जून, २०२२ को स्थानीय प्रौढ़ शिक्षा भवन सभागार में आयोजित संस्था की साधारण सभा के अधिवेशन में शिक्षाविद् डॉ.ओम कुवेरा को संस्था का अध्यक्ष चुना गया। इसी क्रम में संस्था की कार्यकारिणी के अन्य पदाधिकारियों में वरिष्ठ साक्षरताकर्मी श्री अविनाश भार्गव को उपाध्यक्ष, शिक्षाविद् एवं सामाजिक कार्यकर्ता श्रीमती सुशीला ओझा को मानद् सचिव, कवि–संपादक डॉ.ब्रजरतन जोशी को संयुक्त सचिव एवं एडवोकेट श्री गिरिराज मोहता कोषाध्यक्ष चुने गये।

इस निर्वाचन प्रक्रिया को निर्वाचन अधिकारी के रूप में श्री भगवानदास व्यास, निदेशक भैरूंरतन मातृय उच्च माध्यमिक विद्यालय ने कुशलतापूर्वक संपन्न करवाया।

संस्था के साधारण सभा के अधिवेशन में सर्वसम्मति से एवं निर्विरोध रूप से चुने गए सभी पदाधिकारियों को उपस्थित सदस्यों ने बधाई देकर नवनिर्वाचित कार्यकारिणी का उत्साहवर्धन किया।

नवगठित टीम की ओर से अध्यक्ष डॉ. ओम कुवेरा ने संस्था के संस्थापक सदस्यों एवं पूर्व के अध्यक्षों को प्रणाम करते हुए कहा कि संस्था सदैव सामूहिक सहकार से प्रगतिपथ पर अग्रसर होती है। इसलिए संस्था के सभी सदस्य महानुभाव संस्था की कार्य–गतिविधियों में अपने महत्ती अनुभवों से नवगठित कार्यकारिणी का मार्गदर्शन करते रहें।❑

हमारा नाटक 'पलिम्प्सेस्ट'







मूमल तंवर

मूमल तंवर कॉलेज के विद्यार्थियों को थियेटर पढ़ाती है। यहां वह अपने नवीनतम नाटक 'पलिम्प्सेस्ट', जो कि 'डिलेमा ऑफ चॉइसेज' के बारे में है की अनुभव और प्रक्रिया हमारे साथ साझा कर रही हैं। इस नाटक की रिहर्सल राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति के प्रांगण में हुई। ❑ सं.

मैं एक गर्ल्स कॉलेज में पढ़ाती हूं और हमारे सत्रांत के समय मुझे एक नाटक तैयार करना होता है।

हम पहले से लिखी किसी पटकथा पर नाटक नहीं बनाते बल्कि विद्यार्थियों के जीवन से जुड़े विषयों पर बात कर एक विषय को चुन, उस पर सिरे से काम शुरू करते हैं।

इस वर्ष एक छात्रा ने बताया कि उसे अपने पिता का सामना करना पड़ रहा है।

वह स्नातक की छात्रा है और वह जो कार्य करना चाहती है उसके पिता ने उसके लिए २ साल दिए हैं फिर वह उसका विवाह कर देंगे। हमने इस निजी विषय को समझने के लिए काफी चर्चा की और इस निर्णय पर पहुंचे कि हम कुछ नया कर रहे हैं पर हमारे लिए सब कुछ पहले से ही चुना जा चुका है और हम खुद के जीवन के लिए भी कुछ चुनने में भावनात्मक ग्लानि महसूस करते हैं।

वह लड़की कविता लिखती है और उसने मुझे पूछा, ''मैडम, क्या हम खुद के लिए कुछ चुनना और उसे चुनने की प्रक्रिया में जो जद्दोजहद हमें महसूस होती है इस विषय पर नाटक बना सकते हैं ?''

मैंने कहां हां। क्यों नहीं। और हमने 'चुनाव की दुविधा' पर नाटक बनाने का निर्णय लिया।

इस विषय के भावनात्मक पक्ष को समझने, खुद के लिए कुछ ना चुन पाने, और इसी में जीवन बीत जाने को नाटकीय रूप में कैसे दिखाए इसमें थोड़ा समय लगा।

हमने इस विषय को दो श्रेणियों में विभाजित किया। एक तो हमारे जीवन के प्रमुख निर्णय और दूसरे छोटे-



छोटे निर्णय और वह निर्णय कौन ले रहा है और वह कैसे हमारे परिवेश से प्रभावित होते हैं ? छात्राओं ने अपने निजी अनुभव साझा किए कि कब-कब उन्होंने महसूस किया कि खुद के लिए कुछ ना चुनाव कर पाने ने कैसे उनकी निर्णय लेने की क्षमता को कमजोर कर दिया है।

विचार मंथन के दौरान बचपन से शुरुआत हुई और बचपन में जाति, धर्म, विवाह, वर्ग, रूप-रंग के, स्थिति के बारे में जो भी वाक्य सुने थे उन्हें हमनें कागज पर लिख दिया। साथ में यह भी दर्ज किया कि बाहरी दुनिया को देखने के हमारे नजरिए को इन वाक्यों ने कैसे प्रभावित किया। और इस वजह से हम इतने सारे सही और गलत के साथ संघर्ष करते रहे हैं। हम सुना-सुनाया सही-गलत तो मानते आए हैं पर खुद का सही और गलत चुनने में भी हमें मुश्किल होती है।

इसे और समझने के लिए हमनें कारणों पर बात की कि कैसे शिक्षण संस्थाएं व घर हमें हमेशा एक समूह में मिलाए रखने का प्रयास करता है और हम उस समूह से अलग होकर कुछ सोच नहीं पाते। खुद को सुनना नहीं सीख पाते। हम अपने जीवन का अधिकांश भाग इन्हीं दुविधाओं में व्यतीत करते हैं। इसलिए मानव की प्रारंभिक अवस्था को दर्शाते हुए नाटक तैयार करना शुरू किया।

कैसे एक 'निराकार' बच्चा इस दुनिया में आता है और पहले उसके माता-पिता उसे 'आकार' देते हैं। फिर शिक्षक, और फिर उसके बराबरी के साथी। जब वह अपनी पसंद के अनुसार जीवन को बनाने के निर्णय लेने कि अवस्था में पहुंचता है तब तक बाहरी शोर और इतने सारे पथ उसे इतना उलझा देते हैं कि वह सदा से चली आ रही एक अनिर्णय में राजी।

'इन सभी विचारों के साथ हमने यह नाटक 'डिवाइजिंग थियेटर' की शैली में बनाने का सोचा जिसके अंतर्गत इस विषय से संबंधित दृश्य, इंटरव्यू, लेख, कविता, साउण्ड सब कुछ ढूंढा जाता है और हर रोज खोजते-खोजते शारीरिक गतिविधियों, भाव-भंगिमाओं की सहायता से दृश्य को कोरा जाता है।

इस शैली का उद्‌भव का सबसे बड़ा कारण था पहले के थियेटर में अभिनेताओं को मानसिक रूप से चिंतन मनन से दूर रख सिर्फ कठपुतली की तरह अभिनय करवाना।

इस शैली में नाटक बनाने के दौरान प्रदर्शन से कहीं अधिक विचार पर जोर दिया जाता है।

इस नाटक को बनने में २ महीने का समय लगा।

नाटक का नाम सोचते हुए मुझे हिमांशु व्यास जी का बताया एक शब्द याद आया 'पलिम्प्सेस्ट' जिसका अर्थ है किसी सतह पर पहले कुछ लिखा गया है जो समय के साथ धुंधला गया है। शब्दों की धुंधली आकृति लिए इस सतह पर जब फिर से कुछ लिखा जाए



तो नई आकृतियां बन जाती है पर पुराना पूरा मिटा कहां है ?

यह शब्द नाटक के भाव के लिए एकदम उचित लगा कि हम सभी को लगता है कि हम कुछ नया जीवन रच रहे हैं पर हम तो एक चक्र में, पहले से कोरी हुई रेखाओं पर ही चल रहे हैं।

नाटक में मुख्य अभिनय किया मानसी अग्रवाल और निहारिका ने। साथ ही मिलि, सेजल, एंजेला, मेहर, ईशा, वर्तिका, दिया, वैदेही, निष्ठा एवं रेया ने एक दृश्य में सहायक अभिनेत्रियों का किरदार निभाया। सहायक निर्देशक रही चेल्सी पाठक।

नाटक का आई. आई. एस. यूनिवर्सिटी में 'द न्यू वॉइस आर्ट्स प्रोजेक्ट' की सहायता से १४ मई, २०२२ को खेला गया। ❑

रामेश्वर जी की सेवा–निवृत्ति के आत्मीय क्षण



समिति के वाहन चालक श्री रामेश्वर प्रसाद ३१ मई, २०२२ को ३० साल की सेवा अवधि पूर्ण करके सेवा निवृत्त हो गये। इस अवसर पर समिति में एक गरिमामय कार्यक्रम आयोजित किया गया। इसमें समिति की अध्यक्ष श्रीमती आशा बोथरा, सचिव, श्री राजेन्द्र बोड़ा, संयुक्त सचिव श्रीमती नीलम अग्रवाल सहित समिति के पुराने कार्यकर्ता तथा श्री रामेश्वर प्रसाद के परिवार के सदस्य उपस्थित हुए।

सभी ने उनको स्वस्थ एवं लम्बे जीवन की शुभकामनाएं दी। इस अवसर पर श्री रामेश्वर प्रसाद ने अपने संस्मरण भी सुनाये। उन्होंने एक कविता के माध्यम से अपनी बात कही –

पता ही नहीं चला

कैसे कटा २५ से ६० तक का यह सफर
पता ही नहीं चला
क्या पाया, क्या खोया, क्यों खोया
बीता बचपन गई जवानी कब आया बुढ़ापा,
पता ही नहीं चला
बेटे से कब ससुर हो गये, पता ही नहीं चला
पहले मां–बाप की चली, फिर बीवी की चली,
फिर बच्चों की चली, अपनी कब चली,
पता ही नहीं चला
दिल कहता जवान हूं मैं, उम्र कहती नादान हूं मैं,
इस चक्कर में कब घुटने घिस गये, पता ही नहीं चला
झड़ गये बाल, बदल गई चाल, लग गया चश्मा
कब बदली सूरत, पता ही नहीं चला
बहू, जवांई, नाते–पोते, खुशियां आई,
कब मुस्कराई उदास ज़िन्दगी, पता ही नहीं चला
जी भर कर जी ले प्यारे,
फिर न कहना कि मुझे, पता ही नहीं चला। ❑

स्वत्त्वाधिकारी राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति द्वारा कुमार एंड कम्पनी, जयपुर में मुद्रित तथा ७–ए, झालाना संस्थान क्षेत्र, जयपुर–३०२००४ से प्रकाशित। संपादक–श्री राजेन्द्र बोड़ा

 RNI 43602/77 ISSN No.2581-981X

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
7–ए, झालाना संस्थान क्षेत्र,
जयपुर–302004